नई दिल्ली
रविवार, 18 अक्तूबर, 2026, मूल्य-15.00
राष्ट्रीय
वर्ष-8 अंक-52 पृष्ठ- 8
RNI: DELHIN / 2018 / 76679
Postal Reg. No. DL(C)-05/1425/2025-27
License To Post Without Pre Payment No. U(C)-164/2025-27
Magazine Post Reg. No. DL(DS)-31/MP/25-26-27

संडे नवजीवन

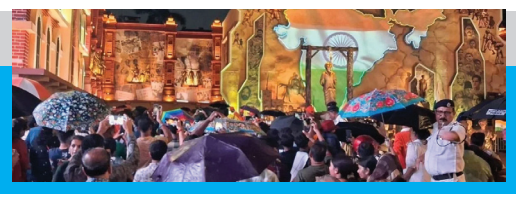

Freedom is in Peril, Defend it with all your might Jawaharlal Nehru

बंगाल में भाजपा ने कर लिया दुर्गा पूजा का मेकओवर 4
दिल्ली की सड़कों पर स्त्री शक्ति का असाधारण सैलाब 2

टूटा गलबहियों का मुगालता 6

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com

हुकूमत की नज़र में दुश्मन, पर एक-दूसरे के हमदर्द

स्वर्णा भटनागर

मैं अपनी खिड़की के पास बैठी हूं। रात का घना अंधेरा सूरज के तयशुदा उजाले के आगे घुटने टेक रहा है। मेरे घुटनों और पीठ में तेज दर्द है, और इसी हाल में मैं दिन की अपनी संभवतः आखिरी डिस्ट्रेस कॉल का जवाब देती हूं। साथियों के महफूज घर लौटने की तसल्ली करके घर लौट रही एक स्वेच्छाकर्मी ने मुझसे कहा- 'शनिवार को मेरा इरादा घर पर रहकर सिर्फ किताब पढ़ने का था'।

देश का युवा एक अघोषित जंग के मुहाने पर है, और यह जंग अब हमारे घरों की चारदीवारी के भीतर तक आ पहुंची है। हमारे मां-बाप ने अब यह पूछना छोड़ दिया है कि हम कहां जा रहे हैं; वे बस यह पूछते हैं कि चोट कहां लगी है। अपनी आरती उतारने में मदहोश छिहत्तर साल के एक लोकलुभावन नेता के चरणों में अपनी समझ-बूझ गिरवी रख चुके रिश्तेदार हमें कुलघाती और कुल-कलंक करार देते हैं क्योंकि हम सवाल पूछते हैं।

हम पहले पुलिस और अर्धसैनिक बलों से लोहा लेते हैं, जो अपनी भड़ास हमारे जिस्मों पर लाठियां बरसाकर निकालते हैं। फिर हमारा सामना उस जहरीले मीडिया से होता है, जिसके फेफड़े नफ़रत से लबालब हैं और जो अपने वातानुकूलित स्टूडियो के नफ़रती तमाशे में हमें 'दिमागी नक्सल', 'राष्ट्रविरोधी', 'पाकिस्तान-परस्त' और न जाने क्या-क्या तमगे बांटता रहता है।

हम वकीलों की भारी-भरकम फीस, मुकदमों (एफआईआर), जमानत की तारीखों और घर खरीदने के लिए जोड़ी गई पूंजी के लुटने से भी जूझते हैं। उस पेशेवर माहौल में भी लड़ना पड़ता है जहां अपनी राय जाहिर करने से कहीं ज्यादा सुरक्षित अपना सिर झुकाए रखना माना जाता है। हम उस जिंदगी को गढ़ने की जद्दोजहद कर रहे हैं जिसकी शुरुआत अभी कायदे से हुई भी नहीं है। मेरा इनबॉक्स अंधभक्ति के कानफोड़ू राष्ट्रवाद के खिलाफ बोलने वालों को सबक सिखाने पर आमादा संघी लंपटों की बलात्कार और जान से मारने की धमकियों से अटा पड़ा है। वे तड़के फोन करके यह भांपते हैं कि क्या मेरी आवाज कांप रही है। हां, आवाज कांपती है। मगर हम उनसे भी लड़ते हैं।

जब मैं मेघनाद और राजीव के साथ 'प्रोटेस्ट सपोर्ट इनिशिएटिव' से जुड़ी, तो अच्छी तरह पता था कि आने वाले महीने मुश्किल इम्तिहान के होंगे। डिटेंशन कैंप में चिकित्सीय मदद दे रही एक स्वयंसेवी से मैंने कहा- 'मैं किसी दूसरे इंसान की हिफाजत का जिम्मा अपने हाथों में लेने के लिए कतई तैयार नहीं।' उसने जवाब दिया- 'मुझे लगता है कि हमने यह सब ठोकर खाकर सीखा है, क्योंकि हमारी जगह लेने कोई दूसरा नहीं आ रहा था और हम किसी को भी पीछे बेसहारा नहीं छोड़ सकते थे।'

जेल में मुकदमे का सामना कर रहीं एंजेला डेविस को खत लिखते हुए जेम्स बाल्डविन ने एकजुटता की अहमियत को बताया थाः 'अगर वे सुबह तुम्हें ले जाते हैं, तो समझ लो कि उस रात वे हमारे लिए भी आ रहे होंगे।'

मुझे जुलाई के नीट विरोधी प्रदर्शनों की याद आती है, जब गिग वर्कर सैकड़ों किलोमीटर दूर बैठे हमारे हमख्याल अजनबियों द्वारा भेजा गया खाना पहुंचाने के लिए दिन का अपना आठवां चक्कर लगा रहे थे। ये वे तथाकथित 'विदेशी एजेंट' हैं जो फासीवादियों से मोर्चा ले रहे चंद युवाओं का पेट भर रहे थे। बमुश्किल बीस साल का एक लड़का आलू भुजिया का पैकेट लिए खड़ा था और आने-जाने वालों से मुट्ठी भर भुजिया चखने की जिद कर रहा था। उसके पास ज्यादा पैसे नहीं थे; प्रदर्शनकारियों के पास सब कुछ था लेकिन भुजिया नहीं थी। इसलिए वह वही लेकर चला आया।

मुझे अनूपा की याद आती है जो बेंगलुरु से केयर पैकेज और आर्थिक इमदाद भेज रही थीं, और हांगकांग में बैठा रायन जो स्क्रीन के पीछे रहकर संदेश फैलाने, चंदा जुटाने और झूठे नैरेटिव की हवा निकालने में मदद कर रहा था। इस आंदोलन का भूगोल हमेशा शहर की हदों से कहीं आगे तक फैला रहा है। इसमें वे लोग भी शामिल हैं जो सड़कों पर डटे हैं, और वे भी जो उनके डटे रहने को मुमकिन बना रहे हैं।

निगरानी वाले कैमरे आपको यह कभी नहीं दिखाएंगे। वे तो आपको यही यकीन दिलाना चाहेंगे कि हम बेकार, निकम्मे और अपने मोबाइल स्क्रीनों से चिपके ऐसे सिरफिरे हैं जो सिर्फ उपद्रव मचाने के लिए जमा हुए हैं। उनके मेटा चश्मे और हाई-टेक उपकरण-जो महिलाओं के साथ दरिंदगी होते वक्त बड़ी बेशर्मी से अंधे हो जाते हैं-लोकतांत्रिक अधिकार की हिफ़ाज़त के लिए एक-दूसरे से सटे नौजवानों की कतारों को तो कैद कर सकते हैं, मगर उनके लेंस इतने संकीर्ण हैं कि वे उस करुणा और सूझबूझ को रिकॉर्ड नहीं कर पाते जो इस संघर्ष की रूह है। और इन तमाम मुश्किलों के बाद हम उस सुनियोजित राष्ट्रीय ढोंग से लड़ते हैं जो हमें लगातार यह समझाने पर तुला रहता है कि यह सब सिर्फ हमारा वहम है और मुल्क में 'सब चंगा सी'।

एक प्रदर्शनकारी लड़की पर उसके भाई के खाने की मेज पर आरोप मढ़ दिया गया कि वह अपनी हिरासत के बारे में 'बात को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर' पेश कर रही है। वह किसके सच को खींच रही थी? अपने खुद के सच को, या उस निरंकुश और कायर हुक्मरान के आगे घुटने टेकने वालों के पाखंड को?

किसी इंसान पर क्या बीतती होगी जब वह किसी खौफनाक दौर से गुजरे और फिर उसी को साबित करने के लिए गिड़गिड़ाना पड़े कि वाकई ऐसा हुआ था? अपनी आंखों के सामने सबूतों को तैरते देखना और फिर भी रिपब्लिक टीवी देखकर मतिभ्रम के शिकार लोगों से यह सुनना कि आपने इस पूरे मामले को खुद गढ़ा और इसका राजनीतिकरण किया है? आप अपनी आपबीती, अपने घाव और सबूत सिर्फ एक हद तक ही दिखा सकते हैं। लेकिन जब किसी झूठ को झुठलाने के लिए सच की तुलना में कहीं ज्यादा मशक्कत करनी पड़े, तो इंसान अपनी ही जिंदगी के मुकदमे में खुद ही पूर्णकालिक वकील बनकर रह जाता है।

लिहाजा, जब राहुल गांधी ने 'चलो दिल्ली' मार्च के साथ बाराखंभा रोड पर कदम रखा, तो ऐसा लगा जैसे धुएं की घुटन भरे कमरे की कोई खिड़की अचानक खोल दी गई हो। पिछले चार महीनों से मैं और मेरे जैसे तमाम युवा अपने उस दर्द और संघर्ष को व्यवस्था की नजरों में दर्ज कराने की जंग लड़ रहे हैं, जिसे उन लोगों द्वारा तार-तार किया जा रहा था जो हालात से कोसों दूर थे। हम भूल चुके हैं कि एक रात चैन की मुकम्मल नींद क्या होती है। खौफ और गुस्सा हममें भीतर तक भर गया है, और यह बेपनाह थकान सब कुछ छोड़कर घर लौट जाने का बहाना जैसी लगती है। एक ऐतिहासिक लम्हे में उन्होंने हमें उस दिशाहीन भंवर से बाहर खींच लिया।

अगर मैं विपक्ष के नेता की सिर्फ उनका संवैधानिक फर्ज निभाने के लिए तारीफ कर रही हूं, तो यह साफ जाहिर करता है कि हम किस स्याह दौर में जी रहे हैं। मुझे 'द थ्रीपेनी ओपेरा' में बर्टोल्ट ब्रेख्त की कही बात याद आती हैः 'पहले रोटी आती है, फिर नैतिकता।'

मेरे पास इतना वक्त और सहूलियत नहीं है कि राहुल गांधी की नीयत का पोस्टमार्टम करने बैठूं, जबकि हकीकत यह है कि उनके इस कदम से हमारे आंदोलन को सीधा सहारा मिला है। जो लोग अपनी असहमति की कीमत अपनी रोजी-रोटी, सुरक्षा और मानसिक सुकून दांव पर लगाकर चुका रहे हैं, उनसे यह मांग करना बेतुका है कि वे पहले उस नेता की नैतिक शुचिता का प्रमाणपत्र हासिल करें जिसने कम-से-कम उनकी बात सुनने की जहमत तो उठाई।

मुझे पेड 'खांग्रेसी' कहकर ट्रोल करने वाले कम-से-कम अपना बुनियादी हिज्जे तो दुरुस्त कर लें। खुद को राजनीति से दूर और 'तटस्थ' बताने वाले जो लोग यह रट लगा रहे हैं कि वे यह सब केवल वोटों और कुर्सी की चाहत में कर रहे हैं, उनसे मेरा सीधा सवाल हैः इसमें आफत क्या है? क्या किसी नेता का यह समझ लेना कोई जुर्म है कि अवाम के दर्द को आवाज देना राजनीतिक रूप से भी मुफीद हो सकता है?

और अगर मैं यह बात सरेआम कह रही हूं, तो इसलिए ताकि विपक्ष के नेता भी इसे पूरी संजीदगी से सुनें। हम याद रखेंगे कि वे आए और उन्होंने हमारी मांगों को जवाब देने के काबिल समझा। लेकिन यह एकजुटता तब भी कायम रहनी चाहिए जब कैमरे रुख मोड़ लें और इस मुद्दे की राजनीतिक उपयोगिता खत्म हो जाए। हम उनसे और ज्यादा कदम उठाने की मांग करते रहेंगे और जब भी वे उम्मीदों पर खरे नहीं उतरेंगे, हम उनसे सवाल पूछेंगे। दांव इतने बड़े हैं कि अहसान के बोझ तले जुबान नहीं सिली जा सकती। और सत्ता से सवाल पूछने के जिस हक की वे वकालत कर रहे हैं, उस हक के तहत उन्हें हमसे भी ऐसे ही तीखे तेवरों की उम्मीद रखनी चाहिए।

इस मुल्क के नौजवानों पर खामोश रहने या किसी की अंधी वफादारी करने का कोई कर्ज नहीं। हमारा सिर्फ इतना सा दायित्व बनता है कि हम अपनी सुरक्षा और जमीर के बीच समझौता किए बिना एक बेहतर भविष्य की मांग कर सकें।

जब मैं ये आखिरी पंक्तियां लिख रही हूं, तो क्षितिज पर सुबह की पहली किरण फूट रही है। मैं बालकनी में आती हूं, जहां बगल के फ्लैट के ब्लूटूथ स्पीकर से श्रेया घोषाल की गाई नज्म गूंज रही है-'वो सुबह हमीं से आएगी'।

मेरी दिली ख़्वाहिश है कि सिर्फ एक बार यह देश इस बात पर यकीन कर ले। ■

> इस देश के युवाओं पर किसी के प्रति अपनी खामोशी या बिना सवाल किए वफादार बने रहने की कोई बाध्यता नहीं है

स्वर्णा भटनागर राजनीतिक और सामाजिक आधियों को शब्दों में पिरोने का हुनर रखने वाली लेखिका हैं

पुकार सुनिए जंतर-मंतर की

ए.जे. फिलिप

साठ साल से भी पहले, जब मैं केरला के पथानमथिट्टा में स्कूली छात्र था, एक बुज़ुर्ग ने विरोध को अपनी दिनचर्या बना लिया था। हर कार्यदिवस पर वह तालुका दफ्तर के गेट के पास अपना छोटा-सा फोल्डिंग तंबू गाड़ते और बैठ जाते। वह यह एक ऐसे मकसद के लिए लड़ रहे थे जिसे वह वाजिब मानते थे। वह एक प्राकृतिक चिकित्सक थे, और उनकी मांग थी कि सरकार सभी प्रकार के मांसाहारी भोजन पर प्रतिबंध लगाए।

सैकड़ों दिन उनका आंदोलन चलता रहा। आखिरकार उनका निधन हो गया और इसी के साथ उनका धरना भी खत्म हो गया। स्कूल जाते समय मैं उन्हें लगभग हर रोज देखता था। एक बच्चे के रूप में मैं उनकी मांग का तर्क नहीं समझ पाता था। यह पूरी तरह अव्यावहारिक नहीं, तो कम-से-कम अतार्किक तो जरूर लगती थी। फिर भी किसी ने उनके शांतिपूर्ण विरोध के अधिकार पर सवाल नहीं उठाया।

बचपन की वह याद मुझे तब ताजा हो आई जब मैं लंदन गया। जिन जगहों को मैं सबसे पहले देखना चाहता था, उनमें हाइड पार्क और खासकर उसका 'स्पीकर्स कॉर्नर' था, जहां लोग पारंपरिक रूप से किसी भी विषय पर अपने विचार व्यक्त करने के लिए जुटते रहे हैं।

मुझे याद आया कि जॉर्ज बर्नार्ड शॉ ने अपने विचारों के प्रचार-प्रसार और पारंपरिक सोच को चुनौती देने के लिए इस पार्क की सार्वजनिक भाषण परंपरा का इस्तेमाल किया था। स्पीकर्स कॉर्नर लंबे समय से दृढ़ विश्वास, असामान्य सिद्धांतों और कभी-कभी विचित्र मान्यताओं वाले लोगों को आकर्षित करता रहा है। किसी की बात से सहमत हुए बिना भी उसके बोलने के अधिकार का सम्मान किया जा सकता है।

इसके बाद मैंने वाशिंगटन डीसी, बर्लिन और पेरिस में सार्वजनिक प्रदर्शनों से जुड़े स्थलों का दौरा किया। हर शहर में सार्वजनिक जीवन में विरोध की साफ मौजूदगी दिखती है। पर्यावरण कार्यकर्ताओं और वीगन समर्थकों से लेकर समलैंगिक अधिकार कार्यकर्ताओं और राजनीतिक विरोधियों तक- लोग अपनी मांगें उठाने के लिए सार्वजनिक स्थलों का रुख करते हैं। कुछ लोग सरकारों के खिलाफ प्रदर्शन करते हैं, तो कुछ सामाजिक कुरीतियों, आर्थिक नीतियों या अंतरराष्ट्रीय घटनाक्रमों के खिलाफ।

जंतर-मंतर को विरोध प्रदर्शन की आधिकारिक जगह की सूची से हटाने का कदम स्पष्ट रूप से असहमति की आवाज़ दबाने, या उसे ऐसी जगह भेजने के लिए है जहां उसकी आवाज़ सुनी ही न जा सके

मुझे जिस बात ने सबसे ज्यादा प्रभावित किया, वह यह थी कि ये प्रदर्शन स्थल किसी गुमनाम कोने में नहीं छिपाए गए थे। वे अक्सर प्रमुख स्थानों पर होते थे, कई बार तो उन संस्थानों की सीधी नजर के सामने जिन्हें वे प्रभावित करना चाहते थे। वाशिंगटन में लाफायेट स्क्वायर व्हाइट हाउस से पेंसिल्वेनिया एवेन्यू के ठीक उस पार है। ऐसे स्थल अब पर्यटन सर्किट का भी हिस्सा बन चुके हैं। सैलानी सिर्फ स्मारकों और इमारतों को देखने नहीं आते, बल्कि उन जगहों को भी देखने आते हैं जहां नागरिकों ने अपने अधिकारों का दावा किया है।

दिल्ली का विरोध-प्रदर्शनों के साथ रिश्ता कहीं अधिक उलझा हुआ रहा है। वर्षों तक इंडिया गेट के पास बोट क्लब के लॉन प्रदर्शनों और सार्वजनिक सभाओं के लिए पसंदीदा जगह हुआ करते थे। वह स्थान आदर्श था। वह शहर के केन्द्र में था, पहुंचना आसान था और वह सरकारी सत्ता के संस्थानों के बेहद करीब था। वहां जुटने वाली किसी बड़ी भीड़ की न तो हुक्मरान अनदेखी कर सकते थे और न आम जनता।

1988 में महेंद्र सिंह टिकैत के नेतृत्व में किसानों के विशाल जमावड़े ने इस समीकरण को पूरी तरह बदल दिया। दसियों हजार किसान बोट क्लब क्षेत्र में उमड़ पड़े, जिससे राजधानी ठहर सी गई और सरकार को यह सोचने पर मजबूर होना पड़ा कि क्या शहर के बीचों-बीच इतने बड़े प्रदर्शनों की अनुमति दी जानी चाहिए।

सरकार ने आखिरकार जंतर-मंतर को आधिकारिक विरोध स्थल के रूप में तय किया। 1990 के दशक के शुरू तक यह उस जगह के तौर पर उभरा जहां नागरिक अपनी शिकायतें दर्ज कराने के लिए इकट्ठा हो सकते थे। इस व्यवस्था का एक स्पष्ट प्रशासनिक लाभ था। पुलिस सीमित प्रवेश द्वारों के जरिये प्रदर्शनकारियों की आवाजाही को नियंत्रित कर सकती थी, जिससे भीड़ प्रबंधन आसान हो जाता था। तीन दशक से अधिक समय तक इस व्यवस्था ने दोनों पक्षों का काम बखूबी संभाला। प्रदर्शनकारी संसद, सरकारी कार्यालयों और मंत्रियों व वरिष्ठ अधिकारियों के आवासों के वाजिब दायरे में इकट्ठा हो सकते थे। वहीं सत्ता में बैठे लोग प्रदर्शनों पर नजर रख सकते थे और उन्हें नियंत्रण में रख सकते थे। प्रदर्शनकारियों को मनोवैज्ञानिक संतोष रहता था कि वे उन लोगों के करीब हैं जिनका वे सामना करना चाहते थे, जबकि प्रशासन खुद को यह दिलासा दे सकता था कि राजधानी भर में फैलाए बिना असंतोष को एक जगह समायोजित किया जा रहा है।

जंतर-मंतर धीरे-धीरे दिल्ली के एक भूखंड से कहीं ज्यादा बन गया। उसने देश की लोकतांत्रिक चेतना में जगह बना ली। किसान, छात्र, मजदूर, सरकारी कर्मचारी, सामाजिक कार्यकर्ता और हाशिए के समुदायों के प्रतिनिधि इंसाफ की मांग लेकर वहां जुटते रहे। कुछ अभियानों में मुट्ठी भर लोग ही जुटते, जबकि अन्य ने भारी भीड़ खींची और राष्ट्रीय स्तर पर ध्यान बटोरा। यह स्थल नागरिकों और हुकूमत के बीच चलने वाली निरंतर बहस का एक जाना-पहचाना मंच बन गया।

लेकिन प्रशासन शायद यह भूल चुका है कि ऐसी जगह देने का असल मकसद क्या था। विरोध स्थल का मतलब पुलिस के लिए प्रदर्शनों को सुविधाजनक बनाना नहीं होता। इसका असली मकसद यह है कि लोग अपनी शिकायतें उन तक पहुंचा सकें जो उन पर शासन करते हैं।

दिल्ली में हालिया विरोध प्रदर्शनों ने सार्वजनिक असंतोष के प्रति सरकार की सहनशीलता की कड़ी परीक्षा ली है। सरकार को जो समझना चाहिए था, वह यह था कि भीड़ का आकार जनता के आक्रोश की गहराई और इकट्ठा हुए लोगों की भावनाओं की तीव्रता को दर्शा रहा था। इस संदेश को समझने के बजाय, प्रशासन ने एक कथित प्रशासनिक समाधान निकालाः जंतर-मंतर को आधिकारिक विरोध स्थल की सूची से बाहर करना और उसकी जगह रामलीला मैदान, बुराड़ी ग्राउंड तथा सीबीडी ग्राउंड जैसे वैकल्पिक ठिकाने तय करना। रामलीला मैदान पहले से ही बड़ी जनसभाओं और धार्मिक आयोजनों से जुड़ा रहा है, जबकि बाकी प्रस्तावित स्थल सत्ता के केन्द्र से काफी दूर हैं।

इसका व्यावहारिक नतीजा साफ है। दूर-दराज के मैदान में होने वाले प्रदर्शन पर पुलिस व्यवस्था बनाए रखना भले आसान हो, लेकिन सरकार के लिए उसकी अनदेखी करना भी आसान हो जाता है। अगर दस लाख लोग भी मंत्रियों और संवैधानिक संस्थाओं के दफ्तरों से दूर इकट्ठा होते हैं, तो उनकी मौजूदगी से सत्ताधीशों को कोई खास असुविधा नहीं होगी। वे प्रदर्शनकारियों की नजरों से ओझल रहकर अपना सरकारी कामकाज सामान्य रूप से जारी रख सकते हैं।

हालांकि, यह कदम विरोध के बुनियादी मकसद को ही खत्म कर देता है। कोई प्रदर्शन उन लोगों का जमावड़ा नहीं होता जो आपस में वक्त बिताना चाहते हैं। यह असहमति का एक सार्वजनिक ऐलान होता है, जिसका उद्देश्य ध्यान आकर्षित करना और जिम्मेदार लोगों को जवाब देने के लिए बाध्य करना होता है। इसलिए प्रदर्शन का स्थान कोई मामूली प्रशासनिक औपचारिकता नहीं है; यह उस संदेश का ही एक हिस्सा होता है।

विडंबना यह है कि जिस व्यवस्था को सरकार अब खत्म करना चाहती है, उसे बनाने में उसने खुद मदद की थी। बोट क्लब से प्रदर्शनों को हटाकर जंतर-मंतर पर सीमित करने के बाद, प्रशासन अब प्रदर्शनकारियों को राजधानी के मुख्य केन्द्र से और दूर धकेलने की तैयारी में है। जो व्यवस्था कभी नियंत्रण योग्य मानी जाती थी, वह अचानक असुविधाजनक हो गई है क्योंकि लोग इसका इस्तेमाल उस स्तर पर गुस्सा जाहिर करने के लिए कर रहे हैं जिसकी सरकार ने उम्मीद नहीं की थी।

साठ से अधिक साल पहले मैंने जिस बुज़ुर्ग प्राकृतिक चिकित्सक को देखा था, उनकी मांग शायद नामुमकिन रही हो। उन्होंने शायद सैकड़ों दिन एक ऐसे मकसद के पीछे गंवाए जिसे कभी स्वीकार नहीं किया जा सकता था। फिर भी उनके छोटे से तंबू ने सार्वजनिक जीवन में अपनी एक जगह बनाई थी, और वहां से गुजरने वाले लोग उन्हें देखकर यह समझ सकते थे कि वह किसी बात से असंतुष्ट हैं।

यही लोकतंत्र का असली मर्म है। विरोध का अधिकार सिर्फ उन लोगों तक सीमित नहीं है जिनकी मांगें समझदारी भरी हों, जिनके तर्क अकाट्य हों या जिनके अभियानों को भारी जनसमर्थन हासिल हो। यह उन लोगों का भी उतना ही अधिकार है जिनके विचारों को हम नापसंद करते हैं, जिनके तर्कों को हम खारिज करते हैं और जिनके अभियानों को हम निरर्थक मानते हैं। यही कारण है कि जंतर-मंतर को एक ऐसी जगह बने रहना चाहिए जहां असहमति की आवाज सुनी जाए, न कि उसे खामोश कर दिया जाए। ■

> हर शहर में विरोध-प्रदर्शन की जगहें सार्वजनिक जीवन के बीच ही होती हैं। ऐसा ही होना चाहिए—सन्नाटे में विरोध कैसा?

दिल्ली की सड़कों पर स्त्री शक्ति का असाधारण सैलाब

सोहिनी सेनगुप्ता

दिल्ली में अक्तूबर के विरोध-प्रदर्शनों की शुरुआत चुनावी जवाबदेही की मांग के साथ हुई, लेकिन जल्द ही यह महिलाओं की सार्वजनिक मौजूदगी के अधिकार, और उससे भी आगे, अपनी शर्तों पर वहां होने के हक़ के एक मुखर आंदोलन में तब्दील हो गया।

मुख्य चुनाव आयुक्त ज्ञानेश कुमार और ध्वस्त चुनावी तंत्र के खिलाफ शुरू हुआ यह प्रतिरोध, राजधानी में यौन हिंसा के खिलाफ और महिलाओं की सुरक्षा के लिए एक समानांतर आंदोलन में तब्दील हो गया। इसने वोट देने के अधिकार को, घर तक सुरक्षित वापसी, विरोध करने, खुलकर हंसने, पसंदीदा कपड़े पहनने या महज़ खुलकर गुस्से का इज़हार करने के अधिकारों के साथ जोड़ दिया।

यह 'फेमिनिनोमेनन' (अमेरिकी सिंगर चैपल रोआन के 2022 के प्रसिद्ध पॉप गीत से लिया गया शब्द) अपने आप में एक बड़ी सांस्कृतिक परिघटना बनकर उभरा, जब दिल्ली की सड़कों पर ऐसी महिलाएं, क्वीयर और नॉन-बाइनरी (पुरुष या महिला की महज़ दो श्रेणियों में न बंटने वाले) लोग, छात्र, पत्रकार और पहली बार वोट देने वाले युवा एक साथ नज़र आए जो खुद की उपेक्षा से तंग आ चुके थे।

यह विरोध प्रदर्शन एसआईआर (स्पेशल इंटेंसिव रिवीजन) प्रक्रिया में हुई गड़बड़ियों को लेकर ज्ञानेश कुमार के इस्तीफे की मांग के साथ शुरू हुए थे, जिसमें करीब 13 करोड़ मतदाताओं के नाम मतदाता सूची से हटा दिए गए थे। लेकिन जब 3 अक्तूबर को प्रदर्शनकारी दिल्ली में इकट्ठा हुए, तो तीन महिला पत्रकारों के साथ यौन उत्पीड़न के आरोप सामने आए। 10-11 अक्तूबर के सप्ताहांत पर यह कार्रवाई अपने चरम पर पहुंच गई, जब दिल्ली पुलिस ने हजारों लोगों को हिरासत में ले लिया और नए दंड संहिता (बीएनएनएस) की धारा 163 के तहत मिले आदेशों का हवाला देते हुए जंतर-मंतर की हर तरफ से घेराबंदी कर दी।

विरोध प्रदर्शनों का यह दौर 'जंतर मंतर 1.0' (जिसके कारण धर्मेंद्र प्रधान को इस्तीफा देना पड़ा) की तुलना में कहीं ज्यादा स्पष्ट रूप से लिंग-आधारित था। एक महिला पत्रकार ने हिरासत में लेने की कोशिश करते समय दिल्ली पुलिस के एसीपी विवेक भगत पर उनके साथ मारपीट का आरोप लगाया। आरोप के अगले ही दिन एसीपी भगत का प्रमोशन आदेश आ गया, हालांकि बाद में जांच पूरी होने तक इस आदेश को रोक दिया गया।

प्रदर्शन में शामिल अन्य कई महिलाओं ने भी पुलिसिया बर्ताव को लेकर आरोप लगाए। महिलाएं चाहे वह आइसा अध्यक्ष नेहा बोरा हों, कैमरे के सामने पुलिसिया छेड़छाड़ का शिकार हुईं पत्रकार, या सड़कों पर गुंडों द्वारा पीछा की जाने वाली, धमकाई जाने वाली और दुर्व्यवहार झेलने वाली महिलाएं, सब उन्हीं खतरों का सामना कर रही थीं, जिनसे बचने की सीख उन्हें बचपन से मिलती है। पुलिसिया बर्ताव बता रहा था, मानो प्रतिरोध करना ही अपने आप में अपराध था, जिसके लिए उन्हें सजा मिलनी चाहिए।

यह मुहिम चल रही थी, उसी समय दिल्ली विश्वविद्यालय के महिला कॉलेजों की छात्राएं आस्था कुंज पार्क में 17 साल की एक लड़की के साथ उसके जन्मदिन पर हुए गैंगरेप के खिलाफ सड़कों पर थीं। हालांकि मुख्यमंत्री रेखा गुप्ता ने कमियां मानीं, लेकिन छात्राएं जानती थीं कि कागज़ों पर मौजूद 'पिंक फोर्स' ज़्यादा कुछ नहीं करने वाली। इसी का नतीजा नारों की वह नई ईजाद थी जो 'एक कचौरी, दो समोसा/ इन मर्दों का क्या भरोसा' जैसे शब्दों में अचानक फ़िज़ा में छा गई।

एक युवा प्रदर्शनकारी के हाथ की वह तख्ती याद है जिस पर लिखा था, 'सबसे धाकड़ लड़कियां बदलाव चाहती हैं।'

तर्क दिया जा सकता है कि संदर्भ से काटकर देखने पर, सामान्यीकरण करने वाले ऐसे नारे सभी पुरुषों को अनुचित तरीके से लक्षित करते हैं, लेकिन फिर महिलाओं का जवाब शायद यह होगा कि वे तो असल में नरमी ही बरत रही हैं, क्योंकि सालों से सड़क पर होने वाले उत्पीड़न, यौन हमले, पीड़ित को ही दोषी ठहराने, नैतिक पहरेदारी और संस्थागत उदासीनता जैसी बातों को कुछ रोचक तुकबंदियों के साथ इन पीले पुलिसिया बैरिकेड्स पर खड़े होकर नारे ही तो लगा रही हैं।

ये वही पुरुष हैं जो महिलाओं के प्रति नफरती बकवास और उन्हें नीचा दिखाने वाली एआई जनित तस्वीरें फैलाते हैं और महिलाओं के ऐतराज जताने पर ऐसा नाटक करते हैं जैसे उन्हें कुछ पता ही न हो। उस वीडियो पर नज़र डालें जहां गले में केसरिया कपड़ा डाले एक शख़्स ऐसे नारे लगाने वाली महिलाओं को 'सस्ती' बता रहा है, जो 'खुद को 300 रुपये में बेच देती हैं'।

जुलाई के आखिर में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने विरोध-प्रदर्शनों के दौरान महिलाओं द्वारा अपशब्दों के इस्तेमाल को एक 'सांस्कृतिक आघात' बताया और फिर उन्होंने उन्हें 'माफ़' भी कर दिया। पुणे में 'छात्रों की गूंज' कार्यक्रम में विपक्ष के नेता राहुल गांधी ने इस प्रतिगामी / दकियानूसी सोच पर सवाल उठाते हुए, महिलाओं के प्रति इन विचारों की जड़ में 'मनुस्मृति' को बताया।

युवा महिलाएं मोदी की थोपी गई माफी और गांधी के 'पितृसत्ता को ध्वस्त करने' के आह्वान से आगे देख रही हैं। वे किसी भी राजनीतिक पार्टी की 'पोस्टर गर्ल' बनने को तैयार नहीं हैं। उन्हें पता है कि नारीवादी शब्दावली का इस्तेमाल चुनावी प्रचार के लिए किस तरह होता है, जबकि सरकार असहमति पर नज़र रखने के लिए एआई-युक्त कैमरों और निगरानी के अन्य तरीके अपनाती है। उनका सबसे ज़्यादा ग़ुस्सा उत्पीड़न और यौन हिंसा की रिपोर्टों पर कोई ठोस प्रतिक्रिया न मिलने पर है। इसलिए, वाई2के स्टाइल के कपड़ों और बड़ी-बड़ी चूड़ियों में सजी ये 'बैडीज़' सड़कों पर उतरी हैं, ताकि किसी भी राजनीतिक दल में मौजूद पितृसत्ता को चुनौती दे सकें।

10 अक्तूबर को कनॉट प्लेस में दक्षिणपंथी सोच वाले कुछ पुरुषों ने विरोध प्रदर्शन कर रही महिलाओं को परेशान कर वहां से खदेड़ दिया, लेकिन उन्हें बिना किसी बाधा के निकल जाने दिया गया। गनीमत रही कि आस्था कुंज में एक बच्ची से बलात्कार करने वाले 30-35 साल के पुरुषों को गिरफ्तार कर लिया गया। लेकिन महिलाएं, चाहे वे युवा हों या बुजुर्ग, मांग कर रही हैं कि इससे पहले कि ऐसे मौखिक उत्पीड़न यौन हमले में बदल जायें, सख्त कार्रवाई होनी चाहिए।

बीएनएसएस (भारतीय नागरिक सुरक्षा संहिता), 2023 की धारा 43(5) कहती है कि आम तौर पर महिलाओं को सूर्यास्त और सूर्योदय के बीच गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। ऐसा केवल विशेष परिस्थितियों में और प्रथम श्रेणी के न्यायिक मजिस्ट्रेट की पूर्व अनुमति से ही हो सकता है। यह भी कि गिरफ्तारी महिला पुलिस अधिकारी को ही करनी चाहिए। इसके बावजूद, एक वायरल रील में विरोध प्रदर्शन करते-करते गला ख़राब चुकी एक युवती रात 11 बजे अपने बिस्तर पर बैठी दिखी, जिसका परिवार इस बात से चिंतित था कि बाहर खड़ी पुलिस गाड़ी उसे उसके लोकतांत्रिक अधिकार, विरोध प्रदर्शन करने के लिए गिरफ्तार करने आई है। अब यह ऐसा काम तो नहीं जिसे 'विशेष परिस्थिति' कहा जा सके।

फिर भी, कोई तंत्र कितना खराब हो सकता है कि महिलाएं पुलिस की बसों से बाहर न निकलने का विकल्प चुनने लगें? कुछ महिलाओं ने घर जाने के लिए हिरासत वाली बसों का सहारा लेना बेहतर समझा; उनका कहना था कि रात में दिल्ली की सड़कों की तुलना में ये बसें उन्हें ज्यादा सुरक्षित लगीं।

इस बीच, जंतर-मंतर जा रही कुछ महिलाओं को दिल्ली पुलिस ने कथित रूप से रोका लेकिन इनमें से सिर्फ हिजाब वाली महिलाओं को हिरासत में लेते हुए उनके फोन जमा करा लिए गए, हालांकि कुछ पत्रकारों के पहुंचने पर इन्हें छोड़ दिया गया। ट्रांस और नॉन-बाइनरी लोगों, जिनमें अरुणाचल प्रदेश की 'प्रोटेस्ट दिवा' लोबसांग रिबा भी शामिल थीं, ने इन प्रदर्शनों में एक नया रंग, विविधता और एक बिल्कुल नया आयाम जोड़ दिया।

विरोध प्रदर्शनों की कुछ सबसे विचलित करने वाली तस्वीरों में महिला पुलिस अधिकारियों द्वारा महिला प्रदर्शनकारियों को सड़क पर घसीटते हुए देखना है। उनकी मौजूदगी पितृसत्ता को चुनौती तो क्या, उसे खत्म करने की दिशा में भी कोई भूमिका नहीं निभाती; सिंदूर लगाए ये महिला पुलिस अधिकारी खुद एक पुरुष-प्रधान व्यवस्था का हिस्सा हैं, और इनकी मौजूदगी असल में उसी व्यवस्था को और मजबूत करती है।

इसी तरह, 'नॉट.ए.जर्नलिस्ट' (not.a.journalist) पत्रकार समदीश भाटिया द्वारा जारी एक वीडियो में, खासी घबराई हुई एक महिला, जिसकी कुर्ती पुलिसिया सख्ती में फट गई है- हताशा में चिल्लाकर कहती है: "हम विरोध ऐसे ही तो नहीं करते हैं।" ■

वे न तो पीड़ित हैं और न ही पुरुषों के अहंकारपूर्ण रवैये को बर्दाश्त करने वाली हैं। वे ऐसी 'अच्छी लड़कियां' नहीं हैं जिन्हें सुरक्षा की जरूरत हो

श्रद्धांजलि

चेरुवायल रमन
2 फरवरी 1952 – 14 अक्टूबर 2026

गहरी विरासत छोड़ गए वायनाड के 'सीडमैन'

चेरुवयाल रमन ऐसे इंसान थे जिन्होंने उन बीजों में जान फूंकी जो सबको पोषण देते हैं

के.ए. शाजी

साल 1969 में, जब चेरुवयाल रमन को महज़ डेढ़ सौ रुपये महीने की सरकारी नौकरी का प्रस्ताव मिला, उनके लिए इसे ठुकरा पाना मुश्किल था। यह नौकरी उन्हें खेती की अनिश्चितताओं से बाहर निकलने का एक मौका दे रही थी। उन्होंने पिछले साल ही कन्नूर के रोजगार कार्यालय में अपना पंजीकरण कराया था।

लेकिन रमन के सामने 40 एकड़ जमीन का सवाल था। उनके चाचा के पास 22 एकड़ धान के खेत और 18 एकड़ जमीन थी। रमन ने उन्हें नौकरी के बारे में बताया, तो वह चुप रहे। फिर उन्होंने एक ऐसा सवाल पूछा, जिसने आगे चलकर रमन की पूरी जिंदगी की दिशा ही बदल दी: "तुम चले गए, तो इन सबका ध्यान कौन रखेगा? क्या ये सब सूख नहीं जाएगा? तुम्हें यह नहीं चाहिए, तो बेशक सब कुछ छोड़कर चले जाओ!" और, रमन ने नौकरी छोड़ना बेहतर समझा। उन्हें यह बात याद रही, "यह ज़मीन वह काम नहीं थी, जो सरकार ने मुझे दिया था।"

वह असल में धान के उन खेतों को छोड़कर कभी गए ही नहीं।

वायनाड के चहेते 'नेल्लाचन' (धान के पिता), चेरुवयाल रमन का 14 अक्तूबर को कोझिकोड मेडिकल कॉलेज अस्पताल में निधन हो गया। वह 76 वर्ष के थे। उनके जाने के साथ ही, कृषि से जुड़ी यादों का एक असाधारण संरक्षक भी हमारे बीच से चला गया।

रमन का बीज संरक्षण का सफर उनके चाचा द्वारा छोड़ी गई चावल की छह पारंपरिक किस्मों से शुरू हुआ। उन्हें इस बात से परेशानी थी कि जिस परिवार ने 40 एकड़ ज़मीन पर खेती की थी, उसने अपनी मूल बीज-विरासत का बहुत कम हिस्सा ही बचाकर रखा था।

केरला कभी चावल की किस्मों की असाधारण विविधता के लिए ख्यात रहा है। अकेले वायनाड में ही सौ से ज्यादा पारंपरिक किस्में होती थीं, जो तरह-तरह की मिट्टी, जल स्तर और मौसमों के अनुकूल थीं। रासायनिक खेती और अधिक उपज देने वाली किस्मों के प्रसार के साथ, इनमें से कई देसी बीज खेती से लुप्त हो गए।

रमन ने बची हुई किस्में तलाशने के लिए वायनाड में दूर-दूर तक यात्रा की ताकि किसानों को उनके पास सुरक्षित रखी गई किस्में साझा करने के लिए मना सकें। उन्होंने कोझिकोड और कन्नूर से भी बीज इकट्ठा किए। धीरे-धीरे, उनके पास लगभग 55 पारंपरिक किस्में जमा हो गईं, जिन्हें उन्होंने बहुत सावधानी से अपनी ज़मीन पर उगाया।

लेकिन वे महज़ बीज सहेजने वाले इंसान नहीं थे। वह तो विकास और आधुनिकता की मार से एक जीवन-शैली और एक कृषि-सभ्यता को बचा रहे थे।

रमन अपने बीज किसी पुरानी निशानी की तरह सिर्फ संभालना नहीं चाहते थे। वे चाहते थे कि ये बीज वापस मिट्टी में पहुंचें। उन्होंने उनलोगों के बीच इन्हें मुफ़्त बांटा, जो इन्हें उगाना चाहते थे। साथ ही, उनसे यह भी कहा कि वे इन किस्मों को सहेज कर रखें और अपनी फ़सल से प्राप्त बीज उन्हें लौटा दें, ताकि उनका यह संग्रह और विशाल हो सके।

उनके लिए, बीज एक ऐसी जीवंत विरासत थे, जिसे अगली पीढ़ी को सौंपना ज़रूरी था।

*

रमन हरित क्रांति की संभावनाएं समझते थे। रासायनिक खेती का उनका विरोध अज्ञानतावश नहीं, इस गहरी चिंता से उपजा था कि जब कृषि की सफलता को महज़ पैदावार के पैमाने पर मापा जाता है, बहुत कुछ खो सकता है।

उन्होंने रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों का उपयोग करने से इनकार कर दिया और इसके बजाय गाय के गोबर, जैविक कचरे और प्राकृतिक खाद का सहारा लिया। उन्हें इस बात की चिंता थी कि खेती वाले इलाकों से मेंढक, कीड़े-मकोड़े, मछलियां और अन्य जीव गायब हो रहे हैं। उन्हें मनांतवाडी नदी की यादें आज भी ताज़ा थीं, जो कभी मछलियों और मीठे पानी के विशाल झींगों से भरी रहती थी; और वायनाड के पारिस्थितिक पतन को लेकर उनके दुख में, इन यादों का भी एक गहरा नाता था।

वह मानते थे कि मिट्टी में जान होती है, और खेती करना प्रकृति के साथ एक रिश्ता है, न कि सिर्फ ज़्यादा से ज़्यादा फ़सल निकालने का कोई ज़रिया। वह कहते थे, "अगर हाइब्रिड बीजों से एक टन चावल मिलता है, तो मुझे शायद आधा टन ही मिले। लेकिन इतना काफ़ी है। प्रकृति को वह आधा टन ज़्यादा पसंद है जिससे सब लोग जी सकें, बजाय उस एक टन के जिससे सिर्फ़ मेरा गुज़ारा हो।"

उन्हें अक्सर नासमझ मान लिया जाता, क्योंकि वे ऐसी पारंपरिक किस्में चुनते थे, जिनकी पैदावार आधुनिक किस्मों के मुकाबले कम होती थी। रमन यह आलोचना मुस्कुराकर क़बूल करते: "सब कहते हैं कि मैं बेवकूफ़ हूं। लेकिन प्रकृति को मेरी यह बेवकूफ़ी पसंद है।"

उन्होंने ट्रैक्टर का इस्तेमाल करने के बजाय, कटी हुई फसलों के गट्ठर डंडे से पीटकर धान निकालने का पारंपरिक तरीका जारी रखा। उनके काम करने के तरीकों में बीजों के प्रति सम्मान और उन पारिस्थितिक रिश्तों के लिए आदर था, जो इन बीजों को जीवित रखते हैं।

उन्होंने एक बार कहा था, "बीज विश्वविद्यालयों में पैदा नहीं होने चाहिए।" उनका इशारा हवा से उड़कर, पानी के साथ बहकर और पक्षियों-जानवरों द्वारा इधर-उधर फैलाए जाने वाले लाखों बीजों की ओर था।

इंसानों द्वारा प्रयोगशालाओं में बीजों का वर्गीकरण और उनमें बदलाव शुरू करने से बहुत पहले से ही, प्रकृति ने जीवन को बनाए रखा था।

रमन विज्ञान को खारिज नहीं कर रहे थे। वह बस हमें यह याद दिला रहे थे कि वैज्ञानिक ज्ञान में इतनी विनम्रता होनी चाहिए कि वह सजीव दुनिया की जटिलता को देखकर विस्मित हो सके।

*

सितंबर 2025 में जब वायनाड की सांसद प्रियंका गांधी वाड्रा ने उनके घर का दौरा किया, तो उनका उनके (रमन के) प्रति लगाव बढ़ गया। प्रियंका ने कुछ वक्त बिताकर उनकी बातें सुनीं और उनके बीज संग्रह तथा खेती के तरीकों के बारे में जाना। इस तरह उनके बीच एक रिश्ता पनप गया। उन्होंने प्रियंका को अपनी बेटी कहा, और प्रियंका ने उन्हें 'अच्चन' (पिता) कहकर संबोधित किया।

उनके निधन पर श्रद्धांजलि देते हुए, प्रियंका याद करती हैं कि रमन ने लगभग एक माह पहले उनसे बात की थी और उनसे दोबारा मिलने को कहा था। उन्होंने लिखा, "आज जब मुझे उनके गुजर जाने की खबर मिली, मेरा दिल बैठ गया।" उन्होंने वापस आने का वादा किया था, लेकिन दिल्ली की कुछ घटनाओं के कारण उन्हें अपनी वायनाड यात्रा बीच में ही छोड़नी पड़ी। उन्होंने रमन को एक समझदार, गरिमापूर्ण और साहसी व्यक्ति के रूप में याद किया- एक ऐसा इंसान जो अपने लोगों के लिए बेहतर जीवन चाहता था और जिसने भेदभाव व अन्याय को कभी स्वीकार नहीं किया। प्रियंका ने बताया, "उन्होंने अपनी आंखों में उदासी लिए मुझे अपने पुरस्कार और सम्मान दिखाए। उन्होंने कहा कि जब तक उनके लोग बेहतर जीवन नहीं जीने लगते, यह पुरस्कार उनके लिए बेमानी हैं।"

राहुल गांधी भी अपने वायनाड प्रवास में रमन से मिले थे। उन्होंने उन्हें 'हमारे प्यारे रामेट्टन' के रूप में याद किया। शोक संदेश में लिखा: "उन्होंने अपना जीवन वायनाड के पारंपरिक धान के बीज संरक्षित करने और आदिवासी ज्ञान की पीढ़ियां जीवित रखने के लिए समर्पित कर दिया।"

केरला के मुख्यमंत्री वी.डी. सतीसन ने रमन को "दुर्लभ पारंपरिक धान की किस्मों का संरक्षक और जीन बैंक" बताया। उन्होंने कहा कि रमन ने आने वाली पीढ़ियों के लिए केरल की कृषि विरासत को सुरक्षित रखने का काम किया।

*

कभी वायनाड में धान के लहलहाते धान, पारंपरिक खेती करने वाले समुदाय और अद्भुत जैव-विविधता हुआ करती थी। यहां के खेतों और स्थानीय किस्मों का धीरे-धीरे गायब होना ऐसी क्षति है, जिसकी भरपाई किसी सम्मान या पुरस्कार से संभव नहीं।

रमन को अपने जीवनकाल में कई पुरस्कार मिले, जिनमें 2023 का पद्मश्री और हाल ही में मिला पहला 'ओमन चांडी मेमोरियल एग्रीकल्चरल अवार्ड' शामिल है, जो उनके जीवन भर के योगदान को मान्यता देता है। लेकिन चेरुवयाल रमन के लिए सबसे बड़ी श्रद्धांजलि यही होगी कि उनके काम को उनके बाद भी जीवित रखा जाए। उनके द्वारा सहेजी गई बीजों की किस्में बची रहनी चाहिए और उनकी संख्या बढ़नी चाहिए; साथ ही उन्होंने जो जीवन शैली अपनायी थी, उसे आधुनिक खेती के दौर में भी कायम रहना चाहिए। ■

"सब कहते हैं कि मैं मूर्ख हूं, लेकिन प्रकृति को मेरी मूर्खता पसंद है

इस समाचारपत्र का प्रकाशन **पवन कुमार बंसल** द्वारा हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-11002 से **दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड**, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002 की ओर से संपादन **राजेश झा** द्वारा और मुद्रण आर. सी. मल्होत्रा द्वारा दि इंडियन एक्सप्रेस (प्रा.) लिमिटेड प्रेस, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा- 201301, उत्तर प्रदेश से किया जा रहा है।

राहुल गांधी नहीं बदले, बदला है भारत का नज़रिया

फ़ोटो: गेटी इमेजेज़

यह बदलाव का प्रतीक है। समय के साथ राहुल गांधी का आत्मविश्वास बढ़ा है, लेकिन उनकी राजनीति का जो संवेदनशील और परवाह करने वाला मूल स्वभाव है, वह मीडिया विशेषज्ञों के इस बात को समझने से बहुत पहले ही सामने आ चुका था

अशोक स्वैन

भारतीय राजनीति में राहुल गांधी का एक बड़ी नई उम्मीद के तौर पर उभरना अक्सर 'एक नए राहुल गांधी' के आगमन के तौर पर गलत तरह से पेश किया जाता है। यह सोच, विशाल हृदय वाले इस नेता का लगभग दो दशकों तक लगातार मज़ाक उड़ाए जाने को खासी अहमियत देती है। अगर इसे उनकी राजनीति और उनके संघर्ष के मकसद को समझने का एक अहम मोड़ माना जाए, तो इस देर से आई समझ को किसी नए नेता के उदय के तौर पर नहीं देखा जाना चाहिए।

इसमें कोई शक नहीं कि राहुल गांधी की लोकप्रियता बढ़ी है। 12 अक्तूबर के ज़बरदस्त मार्च के बाद सोशल मीडिया पर नज़र डालें, तो उनके प्रति प्यार जताने वाले ऐसे तमाम नए युवा समर्थक भी नज़र आएंगे, जो बता रहे हैं कि पहले उन्हें उन पर भरोसा नहीं था, लेकिन अब वे समझ गए हैं कि राहुल असल में क्या हैं।

राहुल गांधी की राजनीति का मूल आधार- सामाजिक न्याय में उनका अटूट विश्वास, भारत के युवाओं और उनकी जायज़ मांगों का समर्थन, आरएसएस-भाजपा के बहुसंख्यकवादी एजेंडे से संविधान को होने वाले खतरों के बारे में उनकी स्पष्ट और खरी बातें, और चुनावी हेरफेर के खिलाफ उनकी मुहिम- ये सारी बातें काफी पहले ही तय हो गई थीं। इसलिए, जो जानकार इस पल को 'एक नए राहुल गांधी' के उदय के तौर पर देख रहे हैं, उन्हें शायद अपनी देर से आई समझदारी का अहसास हो रहा है या फिर अतीत की अपनी शंकाओं को सही ठहराने की कोशिश कर रहे हैं।

दरअसल, जो बदल रहा है, वह है मोदी सरकार की तानाशाही वाली राजनीति, उसके (खराब) कामकाज का रिकॉर्ड, भारत के लोकतांत्रिक संस्थानों पर उसका क़ब्ज़ा, विपक्ष को परेशान करने के लिए जांच एजेंसियों का गलत इस्तेमाल, दल-बदल करवाकर चुनावी जनादेश कमज़ोर करने और सत्ता में बने रहने की उसकी बेताब कोशिशों के बारे में भारत का नज़रिया। राहुल गांधी यह सब बहुत पहले से कहते रहे हैं, तब से कि कई मीडिया पंडितों को शायद याद भी न हो; लेकिन अब बदलाव यह आया है कि लोग उनकी बात को ठहरकर सुनने लगे हैं।

चलिए, थोड़ा पीछे मुड़कर देखते हैं। इससे पहले कि जंतर-मंतर 1.0 आंदोलन इतना उग्र हो जाता कि सरकार झुकती और शिक्षा मंत्री धर्मेंद्र प्रधान को इस्तीफ़ा देना पड़ता, राहुल गांधी पेपर लीक होने और उन छात्रों के साथ हुए धोखे की बात कर रहे थे, जिनके परिवार अपनी सारी जमा-पूंजी बच्चों को प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी कराने में लगा देते हैं और ऐसे कर्ज में डूब जाते हैं जिन्हें चुकाना बहुत मुश्किल होता है। राहुल गांधी इन घोटालों को भारत में रोज़गार के संकट से जोड़ देते हैं। सच तो यही है कि लाखों युवा भारतीयों और उनके परिवारों के लिए ये परीक्षाएं ही अनिश्चितता से बाहर निकलने का एकमात्र ज़रिया हैं, और एक ध्वस्त हो चुके धांधलीपूर्ण शिक्षा तंत्र ने उनके बाहर निकलने का यह एकमात्र रास्ता भी बंद कर दिया है।

'इंडियन एक्सप्रेस' की जांच में यह खुलासा होने से पहले कि चुनाव आयुक्त सुखबीर सिंह संधू और विवेक जोशी ने भी एसआईआर में गड़बड़ियों और खुलेआम गैर-कानूनी कामों की ओर इशारा किया था, स्वतंत्र मीडिया में कई खुलासों से वोटर लिस्ट में बड़े पैमाने पर हेर-फेर के तमाम सबूत सामने आ चुके थे। राहुल गांधी संसद और उसके बाहर यह मुद्दा तब से उठा रहे थे, जब विपक्ष के अन्य नेताओं को इसकी भनक तक नहीं थी। सरकार और उनके भाड़े के मीडिया सहयोगियों ने इसे 'अंगूर खट्टे हैं' (यानी हार की हताशा) की तर्ज पर पेश करने कोशिश की, लेकिन हालिया खुलासों के बाद यह तर्क भोथरा साबित होता दिखा।

> यह कोई 'नए राहुल गांधी' नहीं हैं, बल्कि एक नई समझ है कि वह उस बदलाव का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसे हम देखना चाहते हैं

हालिया विरोध-प्रदर्शनों से यह स्पष्ट है कि अब हर भारतीय, यहां तक कि मोदी सरकार का बचाव करने वाले भी, समझने लगे हैं कि मौजूदा मुख्य चुनाव आयुक्त ज्ञानेश कुमार और उनके पूर्ववर्ती राजीव कुमार के कार्यकाल में चुनाव आयोग ने गड़बड़ियां की थीं। राहुल गांधी इस आंदोलन पर अकेले अपना हक़ नहीं जता रहे, जिसकी अगुआई कई लोग कर रहे हैं; लेकिन याद रखना ज़रूरी है कि एक महीने से भी कम समय पहले, जब शेष विपक्ष या आम नागरिक समाज उनकी बात का समर्थन करने को तैयार नहीं था, एसआईआर पर सवाल उठाने के लिए उनका मज़ाक उड़ रहा था।

इसका मतलब यह भी नहीं कि राहुल गांधी एक पूरी तरह परिपक्व राजनेता के तौर पर आए थे। वक्त, अनुभव और लोगों से लगातार जुड़ने से उनका आत्मविश्वास बढ़ा है। मीडिया को साथ लेकर चलने और उन्हें चुनौती देने, किसी भी आकार की जनसभा को संबोधित करने, शासन-प्रशासन के जटिल मामलों को आम लोगों के लिए सहज भाषा में समझाने और संसद व सड़क पर लोगों का ध्यान खींचने की उनकी क्षमता समय के साथ बढ़ी है। युवाओं और बुजुर्गों, सभी के साथ उनकी सहजता और बिना किसी खास तैयारी के जुड़ जाने की उनकी काबिलियत, उस 'सर्वोच्च नेता' से बिल्कुल अलग और विपरीत है, जिनका टेलीप्रॉम्प्टर के बिना न बोल पाने के कारण मज़ाक उड़ता है। यह अलग बात है कि जो व्यक्ति बिना प्रॉम्प्टर के बोल नहीं सकता, वही उस भीड़ का नेतृत्व कर रहा था जो राहुल गांधी पर ताने कस रही थी, और उनके करीबी लोगों के नियंत्रण वाला मीडिया भी खुशी-खुशी इस खेल में शामिल था।

राहुल गांधी की वह कई दूरदर्शी चेतावनियां भी शायद ही किसी को याद हों, जब वह 2020 के कुख्यात लॉकडाउन के बारे में या 2016 की नोटबंदी के बारे में या तब, जब वह सबसे पहले मोदी की 'सूट-बूट की सरकार' और उसके करीबी उद्योगपतियों के गठजोड़ पर हमला कर रहे थे।

12 फरवरी 2020 को, जब भारत में कोरोनावायरस के महज़ तीन मामले सामने आए थे, तब ही राहुल ने सार्वजनिक स्वास्थ्य और अर्थव्यवस्था को लेकर गंभीर खतरे की चेतावनी दे दी थी। उन्होंने समय रहते कदम उठाने की अपील की, जबकि तत्कालीन केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री हर्षवर्धन ने उनकी विश्वसनीयता को ही कठघरे में खड़ा कर दिया और वह ज़ोर देकर कहते दिखे कि सारे ज़रूरी एहतियात पहले ही बरते जा चुके हैं। मोदी के अचानक देशव्यापी लॉकडाउन लगाने से एक हफ़्ते पहले, राहुल गांधी लाखों लोगों पर असर डालने वाली 'आर्थिक सुनामी' की चेतावनी दे चुके थे। इसके कुछ ही समय बाद आए शुरुआती आधिकारिक अनुमानों से पता चला कि जीडीपी में साल-दर-साल 24 प्रतिशत की गिरावट आई है।

कृषि कानूनों ने एक और बड़ी परीक्षा ली। राहुल गांधी ने 14 जनवरी 2021 को ही कह दिया था कि सरकार इन्हें वापस लेने को मजबूर होगी, और आखिरकार 19 नवंबर को ऐसा ही हुआ। जीत किसानों की हुई, लेकिन मोदी सरकार के उलट, जो मान बैठे थे कि विरोध धीरे-धीरे कमजोर पड़ेगा, राहुल नतीजा पहले ही भांप चुके थे।

हाल के विरोध-प्रदर्शनों का भव्य नज़ारा आसानी से उस शांत राजनीतिक काम को छिपा सकता है जो इस आंदोलन की नींव है।

मोदी सरकार अभी भले ही डांवाडोल और मुश्किल में दिख रही हो, लेकिन वह सत्ता में है और उसे हमला करने के हर अगले मौके का इंतज़ार है। वह आसानी से हार नहीं मानने वाली। लेकिन सड़कों पर दिखते पोस्टर और नारे, सोशल मीडिया पर छाए मीम्स और हज़ारों विद्रोही युवाओं के चेहरे अगर कोई संकेत हैं, तो इसका अंत भी ज़्यादा दूर नहीं है।

अब इसमें तो कोई शक नहीं कि राहुल गांधी विविधता और सामाजिक न्याय पर आधारित राजनीतिक विकल्प का चेहरा बन चुके हैं। वे तब ही सोच-समझकर काम करने वाले और सहानुभूति रखने वाले नेता नहीं बन गए थे, जब लोगों ने उनकी बात सुननी शुरू की थी। अगर आज ज़्यादा लोग उनको सुन रहे हैं, तो इसकी वजह यह है कि जिस राजनीति से तमाम लोगों को उम्मीदें थीं, वह अपने वादे के मुताबिक़ मौके देने में नाकाम रही है। ■

अशोक स्वैन स्वीडन की उप्साला यूनिवर्सिटी में पीस एंड कॉन्फ्लिक्ट रिसर्च (शांति और संघर्ष अनुसंधान) के प्रोफेसर हैं

'जैकबूट' ने ले ली बैलेट बॉक्स की जगह

हमारे लोकतांत्रिक संस्थानों का क्षरण अब खुला रहस्य है, हालांकि अंतरराष्ट्रीय निगरानीकर्ता अब भी इसकी पूरी हद को समझने की कोशिश कर रहे हैं

आकार पटेल

5 मार्च 2021 को भारत सरकार के प्रेस इन्फॉर्मेशन ब्यूरो ने बयान जारी किया, जिसकी हेडलाइन थीः 'एक स्वतंत्र देश के तौर पर भारत का दर्जा घटने के बारे में फ्रीडम हाउस की रिपोर्ट का खंडन'।

यह 1941 में बने एक अमेरिकी थिंक टैंक की उस रिपोर्ट के जवाब में था, जिसमें कहा गया था कि भारत असल में लोकतांत्रिक नहीं है और यहां सिर्फ़ 'आंशिक स्वतंत्रता' वाली व्यवस्था है। ये रिपोर्ट उनमें से एक थी जो दुनिया की कई नामी संस्थाओं ने कुछ इसी तरह के नतीजों के साथ जारी की थीं। हम सिर्फ फ्रीडम हाउस की रिपोर्ट की बात करेंगे क्योंकि इस पर सरकार की तरफ़ से प्रतिक्रिया आई थी।

सरकार के बयान की शुरुआत चुनावी प्रक्रिया के बचाव से हुई और कहा गयाः 'भारत के संघीय ढांचे के तहत कई राज्यों में ऐसी पार्टियां सत्ता में हैं जो केन्द्र की सत्तासीन पार्टी से अलग हैं। ये सरकारें एक ऐसी चुनावी प्रक्रिया से चुनी जाती हैं जो निष्पक्ष और स्वतंत्र होती है और जिसे एक स्वतंत्र चुनाव संस्था आयोजित करती है। यह एक जीवंत लोकतंत्र के कामकाज को दर्शाता है, जो अलग-अलग विचार रखने वालों को भी अपनी बात कहने का मौका देता है।'

यह कोई ईमानदार टिप्पणी नहीं थी। फ्रीडम हाउस की रिपोर्ट के दो हिस्से थे। पहला हिस्सा राजनीतिक अधिकारों पर था, जिसे 40 प्रतिशत वेटेज दिया गया था। इसमें भारत को 40 में से 34 अंक मिले (जो 2023 के 40 के मुकाबले घटकर 33 हो गए)। इसमें स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव, चुनाव आयोग की निष्पक्षता, राजनीतिक पार्टियां शुरू करने की आज़ादी और विपक्ष को अपनी ताकत बढ़ाने के मौकों के लिए पूरे अंक मिले थे।

इस हिस्से में भारत को इस बात पर पूरे नंबर नहीं मिले कि वोटिंग बिना किसी हिंसा और सांप्रदायिक तनाव के हुई या नहीं। इस बात पर शायद ही कोई बहस हो सकती है। असल में, पारदर्शिता के मामले में सरकार को 3/4 नंबर मिले, जो शायद ज़रूरत से ज़्यादा उदारता थी। इसलिए सरकार का जवाब बस वही बातें दोहराना था जो फ्रीडम हाउस पहले ही कह चुका था। भारत की रेटिंग पर असर बाकी 60 प्रतिशत हिस्से में पड़ा, जो नागरिक आज़ादी से जुड़ा है, और यह भी आज़ादी का ही एक हिस्सा है।

इस मामले इसका प्रदर्शन खराब रहा (33/60)। अभिव्यक्ति की आज़ादी, धार्मिक आज़ादी, शैक्षणिक आज़ादी, इकट्ठा होने की आज़ादी, एनजीओ के काम करने की आज़ादी (रिपोर्ट में एमनेस्टी इंटरनेशनल इंडिया पर सरकार के हमले का खास तौर पर ज़िक्र किया गया), कानून का शासन, न्यायपालिका की आज़ादी और पुलिस की उचित प्रक्रिया जैसे मुद्दों पर भारत की रेटिंग खराब थी। लेकिन ये स्कोर असलियत ही दिखा रहे थे।

सरकार नतीजों से हैरान दिखी। उसने मंत्रालयों से उन पैमानों के बारे में जानकारी मांगी, जिनका इस्तेमाल 'इकोनॉमिस्ट इंटेलिजेंस यूनिट' ने भारत की रेटिंग घटाकर उसे 'खामियों वाली डेमोक्रेसी' बताने के लिए किया था। हालांकि, रिपोर्ट में साफ़ तौर पर कहा गया है कि इसकी मुख्य वजह 'नागरिक आज़ादी में कमी' और नागरिकता कानूनों में धर्म को शामिल करना था।

2025 की घटनाओं के आधार पर, 2026 में भारत का अब तक का सबसे कम स्कोर है। आशंका है कि पिछले कुछ महीनों की घटनाओं का असर स्कोर और हमारी छवि पर और भी बुरा पड़ेगा।

आखिर मैं ऐसा क्यों कह रहा हूँ? भारत एक लोकतांत्रिक देश था, क्योंकि इसके संस्थान मज़बूत थे और उन्हें आम तौर पर निष्पक्ष, काफ़ी कुशल और न्यायपूर्ण माना जाता था। ये संस्थान उतने ही अच्छे या बुरे थे जितने कि ज़्यादातर असली लोकतंत्रों के संस्थान होते हैं। 'फ्रीडम हाउस' का स्कोर यही दिखाता है।

इस सवाल पर कि 'क्या सरकार के मौजूदा प्रमुख या देश के किसी अन्य मुख्य अधिकारी को स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावों के ज़रिए चुना गया था?', फ्रीडम हाउस का मानना था कि 'कार्यपालिका के चुनाव और चयन की प्रक्रियाएं आम तौर पर स्वतंत्र और निष्पक्ष मानी जाती हैं' और उन्होंने हमें 4/4 का स्कोर दिया।

'क्या मौजूदा राष्ट्रीय विधायी प्रतिनिधि (सांसद और विधायक आदि) स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावों के ज़रिये चुने गए थे?' इस सवाल पर भी हमें 4 में से 4 अंक मिले, और यह टिप्पणी की गई कि 'चुनावों को आम तौर पर स्वतंत्र और निष्पक्ष माना गया, हालांकि प्रचार के नियमों के उल्लंघन की कुछ घटनाएं सामने आई थीं।'

'क्या चुनावी कानून और ढांचा निष्पक्ष हैं, और क्या संबंधित चुनाव प्रबंधन निकायों द्वारा उन्हें निष्पक्ष रूप से लागू किया जाता है?' - इस सवाल पर 3/4 का स्कोर मिला।

और यह वह अहम पैराग्राफ़ है, जिसमें कहा गया है कि विपक्षी पार्टियों की "चिंताएं 2025 में तब और बढ़ गईं जब सरकार ने बिहार की तरह ही वोटर लिस्ट के 'स्पेशल इंटेंसिव रिविज़न' (एसआईआर) को 12 अन्य राज्यों और क्षेत्रों में भी लागू किया। विपक्ष का आरोप है कि चुनाव आयोग ने वोटर लिस्ट से बड़ी संख्या में वोटरों के नाम गलत तरीके से हटा दिए हैं और बहुत ज़्यादा वेरिफिकेशन की शर्तें लगाकर योग्य नागरिकों को मतदाता बनने से रोका है। राजनीतिक विश्लेषकों और विपक्षी नेताओं ने चिंता जताई है कि एसआईआर से विपक्ष के वोट कम हो सकते हैं और मुस्लिम एवं अन्य अल्पसंख्यक वोटर वोट देने के अधिकार से वंचित हो सकते हैं। सरकारी अधिकारियों ने वोटर लिस्ट में हेरफेर के आरोपों को खारिज कर दिया है। साल के आखिर तक एसआईआर की प्रक्रिया जारी रही।" यह पिछले साल की बात है।

इस सवाल पर कि 'क्या लोगों को अपनी पसंद की अलग-अलग राजनीतिक पार्टियों या दूसरे प्रतिस्पर्धी राजनीतिक समूहों में संगठित होने का अधिकार है, और क्या इन प्रतिस्पर्धी पार्टियों या समूहों के बनने और खत्म होने में कोई अनुचित बाधा नहीं है?' भारत को 4 में से 3 अंक मिले। और इस सवाल पर कि 'क्या विपक्ष के पास चुनावों के ज़रिये अपना समर्थन बढ़ाने या सत्ता हासिल करने का वास्तविक मौका है?' उसमें भी 4 में से 3 अंक मिले।

अब इन स्कोर का कोई मतलब नहीं है। ये हमारी असलियत नहीं दिखाते। वोटर लिस्ट बुरी तरह खराब हो चुकी हैं, चुनाव आयोग सरकार का ही एक हिस्सा है और शायद ही स्वतंत्र है। नेताओं को थोक में खरीदा जाता है और इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि चुनाव कौन हारता है, क्योंकि जैसा कि जुआघरों के बारे में कहा जाता है कि वहां जीत हमेशा 'जुआघर' की ही होती है।

पिछले कुछ सालों में नागरिक आज़ादी को जो नुकसान पहुंचा है, वह तुरंत दिखाई दिया; मुख्य संस्थाओं के कमज़ोर होने का असर देखने वालों को समझने में थोड़ा ज़्यादा समय लगा, लेकिन अब यह बिल्कुल साफ़ है। आज भारतीय राज्य के लिए बैलेट बॉक्स की तुलना में सरकारी दमन ज़्यादा सच्चा प्रतीक है। ■

फ़ोटो: गेटी इमेजेज़

अक्तूबर के विरोध प्रदर्शनों में दिखी विद्रोही भावना को दबाने के लिए पुलिस-राज्य की पूरी ताकत भी नाकाफी थी

> वैश्विक निगरानीकर्ताओं ने सबसे पहले नागरिक स्वतंत्रताओं का क्षरण देखा; अब वे हमारे संस्थानों का क्षरण देख रहे हैं

दुर्गा पूजा पर चढ़ा भाजपाई रंग

गुजरात की इवेंट फर्म, अडानी के पुरस्कार, शेरावाली और जगराते के नए तौर-तरीकों से गैर-पारंपरिक तत्वों की पैठ

ईडन गार्डन्स में तेजर-एंड-ड्रोन का नज़ारा

सौरम सेन और कुणाल चटर्जी

कोलकाता ही नहीं, समूचा पश्चिम बंगाल गहरे सांस्कृतिक आघात का गवाह बन रहा है। सत्ता के नशे में चूर राज्य की नई भाजपा सरकार इस साल दुर्गा पूजा को लेकर अतिउत्साहित है। अंतरराष्ट्रीय स्तर के पैदल प्लाजा से प्रेरित होकर व्यस्त फ्लाईओवर को सतरंगी रंगों में रंगने से लेकर 1864 के ऐतिहासिक क्रिकेट स्टेडियम ईडन गार्डन्स में एक तड़क-भड़क भरे आयोजन पर 180 करोड़ रुपये की भारी-भरकम रकम लुटाने तक, राज्य ने ऐसा उत्सव देखा है जो पहले कभी नहीं हुआ। इस आयोजन के लिए गुजरात की कंपनी 'गोवनानाज' को लगभग 180 करोड़ रुपये दिए गए- यह ऐसा आंकड़ा है जिसकी आधिकारिक पुष्टि तो नहीं हुई, पर इसका खंडन भी नहीं किया गया। 10 अक्टूबर के इस आयोजन के बाद से यह आंकड़ा सुर्खियों में है और सरकार ने इस पर कोई आपत्ति नहीं की है।

स्थानीय इवेंट प्रबंधकों और प्रतिभाओं की अनदेखी के चलते उपजी तीखी आलोचनाओं से घिरे राज्य के वित्त मंत्री स्वपन दासगुप्ता ने इसका ठीकरा स्थानीय कंपनियों के सिर ही फोड़ दिया। एक निजी कार्यक्रम में उन्होंने सफाई पेश की। राज्य की इवेंट मैनेजमेंट कंपनियों पर दोष मढ़ते हुए उन्होंने कहा, 'हमें उम्मीद है कि पश्चिम बंगाल की कंपनियां इससे सबक लेंगी और अगले साल बड़ी भूमिका के लिए तैयार रहेंगी।' लेकिन दासगुप्ता यह बताना भूल गए कि सरकारी निविदा के कड़े नियमों ने स्थानीय कंपनियों के लिए बोली लगाना असंभव-सा बना दिया था।

सरकार के निमंत्रण प्रस्ताव (आरएफपी) में एक करोड़ रुपये की भारी वयाना राशि और तीन प्रतिशत की परफॉरमेंस सिक्योरिटी मांगी गई थी जो अधिकतर स्थानीय कंपनियों के बूते से बाहर की बात थी। इससे भी अधिक निर्णायक शर्त यह थी कि बोलीदाताओं का पिछले दशक में औसत वार्षिक कारोबार कम-से-कम 50 करोड़ रुपये होना चाहिए और सरकारी परियोजनाओं के तहत 20 करोड़ रुपये या उससे अधिक लागत वाले राष्ट्रीय या अंतरराष्ट्रीय आयोजनों को संचालित करने का अनुभव अनिवार्य था। इसने स्थानीय कंपनियों की संभावनाओं पर पानी फेर दिया।

ठेका गुजराती फर्म को मिला। वैसे, यह तय ही माना जा रहा था। मगर जिस फिजूलखर्ची और अंदाज में यह सब हुआ, उसने सबकी भृकुटियां तान दीं। मुख्यमंत्री शुभेंदु अधिकारी ने इस आयोजन में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी और केन्द्रीय गृह मंत्री अमित शाह को आमंत्रित किया था, जिससे इस 'बेहिसाब खर्च' की वजह समझ आती है। लेकिन विख्यात गायकों की मौजूदगी, भड़कीले लेजर शो और ड्रोन के तमाशे ने कई पारंपरिक बंगालियों की भावनाओं को गहरी ठेस पहुंचाई। इस त्योहार की रूह, यानी पवित्र धुनुची नृत्य को एक तरह के अश्लील व भद्दे डांस के पैरोडी में तब्दील कर दिया गया।

इस होड़ में पीछे न रहते हुए, अडानी समूह ने भी आठ चुनिंदा पूजा पंडालों को पुरस्कृत कर अपनी ब्रांडिंग का आगाज किया। राज्य भर में आयोजित होने वाली करीब 40,000 'सर्वजनीन' पूजाओं में से आठ को खुले दिल से नवाजा गया। मूर्तिकारों को 10-10 लाख और आयोजकों को 15-15 लाख रुपये दिए गए। समूह ने चुनिंदा पूजा पंडालों के निर्बाध दर्शन के लिए 'पहले आओ, पहले पाओ' के आधार पर एक लाख लोगों का पंजीकरण भी कराया। समूह के इंतजाम के प्रचार के लिए सोशल मीडिया इन्फ्लुएंसर्स को विशेष अतिथि बनाया गया।

अडानी समूह के सलाहकार संजय थोटे ने कहा, 'हम कोलकाता की दुर्गा पूजा की भव्यता को अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय प्रतिनिधियों के सामने प्रदर्शित करना चाहते हैं ताकि यह दुनिया के सबसे जाने-पहचाने त्योहारों में शुमार हो सके।' कोई भी यह सोच सकता है कि क्या उन्हें मालूम था कि 2021 में कोलकाता की दुर्गा पूजा यूनेस्को की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत सूची में शामिल होने वाला पहला पारंपरिक त्योहार बनी थी। यह हवा का रुख भांपने की एक सोची-समझी ब्रांडिंग कवायद थी। समूह ने कुम्हारों और मूर्तिकारों के उस मशहूर पारंपरिक गांव 'कुमारतुली' का कायाकल्प करने का भी बीड़ा उठाया है जहां ये मूर्तियां गढ़ी जाती हैं।

इस साल 'बाहरी' प्रभाव केवल यहीं तक सीमित नहीं रहा; वह बहुत मुखर दिखा। भाजपा नेताओं द्वारा जारी हर दूसरे पूजा पोस्टर में बांग्ला भाषा और धार्मिक प्रतीकों के साथ छेड़छाड़ की गई। मां दुर्गा को उनके पावन दशभुजा रूप के बजाय आठ, नौ, ग्यारह या बारह भुजाओं के साथ दर्शाया गया। यहां तक कि कोलकाता नगर निगम द्वारा जारी आधिकारिक सूचनाओं और एक विज्ञापन में भी 'गैर-बंगाली' दखल के स्पष्ट संकेत मिले। कोलकाता नगर निगम के विज्ञापनों में हिन्दी शब्द 'स्वच्छता' का इस्तेमाल किया गया, जिसका अर्थ हिन्दी में तो सफाई होता है, लेकिन बांग्ला में 'पारदर्शिता' होता है।

संचार विशेषज्ञ श्रीराज मित्रा ने कहा, 'मैं इस गड़बड़ी के लिए एआई-संचालित अनुवाद सॉफ्टवेयर पर अत्यधिक निर्भरता और भाषाई कौशल की कमी को जिम्मेदार मानूंगा। इसके अलावा, बंगालियों का एक तबका इन बाहरी एजेंसियों के हाथों बांग्ला भाषा की हत्या में साझीदार बन गया है।'

प्रसार भारती के पूर्व सीईओ और भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय के पूर्व सचिव जवाहर सरकार ने राज्य की भाजपा सरकार को नसीहत दी कि वह बंगालियों को यह न सिखाए कि दुर्गा का स्वागत कैसे किया जाता है। सरकार ने चुटकी लेते हुए कहा, 'जिन्होंने यह किया है, वे शायद इससे अनजान हैं कि बांग्ला और हिन्दी की वाक्य-संरचना और बारीकियों में जमीन-आसमान का फर्क है।'

जमीनी अनुभव बताते हैं कि इस साल मांसाहारी भोजन के स्टॉल कम लगे हैं। इसका खास ख्याल रखा जा रहा है कि पृष्ठभूमि में देवी दुर्गा की तस्वीर लगाकर मांसाहारी व्यंजनों का विज्ञापन न किया जाए। खुले तौर पर राष्ट्रवादी और धार्मिक विषयों का चलन तेजी से बढ़ा है। जागरण और शेरावाली के स्वरूप ने अपनी दमदार आमद दर्ज कराई है; और भाजपा नेताओं में अपने-अपने इलाकों की पूजा आयोजनों पर कब्जिह होने की होड़ मची है। हिन्दी भजनों और हनुमान चालीसा की भारी मांग है, और एक हिन्दू संगठन ने अलीमुद्दीन स्ट्रीट स्थित मार्क्स कार्यालय के बाहर 24 घंटे का चंडीपाठ करने के लिए जगह घेर ली है।

जब वामपंथियों ने देखा कि उनके 60 साल पुराने पारंपरिक बुकस्टॉल पर हिन्दुत्ववादी संगठन का कब्जा हो गया है, तो उन्हें अदालत का दरवाजा खटखटाना पड़ा, जबकि पुलिस मूकदर्शक बनी रही।

सांस्कृतिक कार्यक्रमों के स्थानीय प्रायोजक - जो आमतौर पर बिल्डर होते हैं - इस साल ढूंढे नहीं मिल रहे, क्योंकि वे जाहिर तौर पर नए हुक्मरानों के साथ लेन-देन और कमीशन की शर्तों पर मोलभाव में उलझे हैं। बिल्डरों का कहना है कि अलग-अलग स्तरों के नेता अपनी ताकत की नुमाइश कर रहे हैं।

इस सब का एक और असर यह हुआ कि बांग्ला में नए गानों के एल्बम जारी करने की परंपरा भी आहत हुई है। पुराने जानकारों का दर्द है कि नवरात्रि, गरबा के आयोजनों और हिन्दी भक्ति गीतों ने पारंपरिक बंगाली संस्कृति को हाशिये पर धकेल दिया है। वाकई, यह एक बिल्कुल नया और अजनबी अनुभव है! ■

दुर्गा के आठ, नौ, ग्यारह या बारह हाथ होने की और क्या व्याख्या हो सकती है?

हक़ दर-किनार, ख़ैरात की बहार

विधानसभा उपचुनावों से ठीक पहले राज्य की नई स्वर्ण अंगूठी योजना

के.ए. शाजी

विधानसभा उपचुनावों से ऐन पहले राज्य के नवजातों के लिए 'थाईमामन' (मामा) बनने का तमिलनाडु के मुख्यमंत्री सी. जोसेफ विजय का फैसला वैसा आत्मीय और निस्वार्थ कल्याणकारी कदम नहीं है जैसा उनकी सरकार प्रचारित कर रही है।

मदुरै में 28 सितंबर को शुरू की गई 'थाईमामन थंगा मोथिरम' योजना के तहत राज्य के सरकारी अस्पतालों या स्वास्थ्य केन्द्रों में 22 जून 2026 को या उसके बाद जन्मे बच्चों को 1 ग्राम की 22 कैरेट सोने की अंगूठी दी जा रही है। यह योजना विजय की पार्टी टीवीके (तमिलगा वेत्री कड़गम) का चुनावी वादा थी, लेकिन इसे 6 अक्तूबर को मदुरैंतकम और धारापुरम विधानसभा सीटों पर होने वाले उपचुनावों से चंद रोज पहले लागू किया गया, जिस पर विपक्षी डीएमके ने तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की है।

चूंकि अंगूठी योजना को 23 जून को ही मंत्रिमंडल द्वारा औपचारिक मंजूरी और बजट आवंटन के बाद अधिसूचना निकल चुकी थी, इसलिए इसे कानूनी रूप से चुनाव-पूर्व प्रलोभन के बजाय पहले से स्वीकृत और जारी नीति माने जाने की सहूलियत मिल गई।

डीएमके सांसद कनिमोझी करुणानिधि का तर्क है कि महिलाओं को पुरुष रिश्तेदारों के रस्म-रिवाजी उपहारों पर निर्भर रहने के बजाय आर्थिक रूप से स्वावलंबी बनने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। द्रविड़ आंदोलन के महिला आत्मनिर्भरता के सिद्धांत का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा, 'संपत्ति, शिक्षा और आमदनी में आपका बराबर का हक है। कमाइए और सिर उठाकर जिएं।' तमिलनाडु में इस दलील के कई पैरोकार हैं। आलोचक सवाल कर रहे हैं कि क्या महिला कल्याण को एक कानूनी अधिकार के बजाय किसी दयालु पुरुष की सौगात के रूप में पेश किया जाना चाहिए?

कनिमोझी ने विजय सरकार की प्राथमिकताओं पर भी सवाल उठाए और सरकारी अस्पतालों में डॉक्टरों और जरूरी दवाओं की उपलब्धता बेहतर करने के बजाय सोने की अंगूठी योजना में जनता का पैसा लगाने पर गहरी चिंता जताई है।

*

23 जून के सरकारी आदेश में लगभग 4.42 लाख नवजात लाभार्थियों के लिए इस योजना पर सालाना 755.83 करोड़ रुपये का आवंटन किया गया है। ये अंगूठियां 22 कैरेट सोने की हैं और इन पर विशिष्ट सीरियल नंबर दर्ज हैं।

योजना की पात्रता सरकारी स्वास्थ्य संस्थानों में प्रसव, गर्भावस्था एवं शिशु निगरानी व मूल्यांकन प्रणाली (पिकमी) के तहत पंजीकरण और प्रजनन एवं बाल स्वास्थ्य (आरसीएच) पहचान संख्या रखने के साथ-साथ लागू आवासीय शर्तों से जुड़ी है। इस वित्तीय आवंटन ने सरकार की प्राथमिकताओं के टकराव को लेकर सवाल खड़े कर दिए हैं। कनिमोझी की आलोचना सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा को सुदृढ़ करने पर केन्द्रित है, वहीं उनकी पार्टी की सहयोगी और लोकसभा सदस्य तमिलाची थंगपांडियन ने कई सरकारी अस्पतालों में समय से पहले जन्मे बच्चों में सांस की तकलीफ के इलाज वाली जीवनरक्षक दवाओं की कमी की ओर ध्यान दिलाया।

मद्रास इंस्टीट्यूट ऑफ डेवलपमेंट स्टडीज के पूर्व संकाय सदस्य सी. लक्ष्मण कहते हैं, 'असली चुनौती यह सुनिश्चित करने की है कि कोई नई पहल उन बुनियादी सेवाओं की पूरक बने जिन पर जरूरतमंद परिवार निर्भर हैं, न कि वह उन बुनियादी सेवाओं को ही पीछे धकेल दे।'

*

तमिल पारिवारिक परंपराओं में 'थाईमामन' का एक खास स्थान होता है। वह शादी के बाद भी अक्सर अपनी बहन और उसके बच्चों के साथ गहरा नाता बनाए रखता है, और बच्चे के जन्म व परिवार के अन्य संस्कारों के दौरान उपहार भेंट करता है।

सोना, कपड़े और नकदी स्नेह प्रकट कर सकते हैं, मातृ-पक्ष के परिवार से रिश्ते मजबूत कर सकते हैं और आर्थिक संबल भी दे सकते हैं। गरीब परिवारों के लिए ऐसे उपहारों का व्यावहारिक महत्व होता है। सोने को संपत्ति के तौर पर रखा जा सकता है या किसी वित्तीय आपातकाल में गिरवी रखा जा सकता है। सरकार द्वारा दी जाने वाली अंगूठी परिवार को सामाजिक व पारंपरिक अपेक्षाओं के दबाव से भी राहत दिला सकती है।

मदुरै में योजना के शुभारंभ पर मारीसेल्वी नामक एक महिला लाभार्थी ने कहा कि अपने भाई से उनकी बोलचाल बंद है और वह विजय को ही अपना भाई मानती हैं। प्रगतिशील हलकों की आपत्तियों के बावजूद अधिकतर गरीब लोग इस भौतिक सहायता और योजना के भावनात्मक ताने-बाने की सराहना ही करेंगे।

'द न्यूज मिनट' में विकास अर्थशास्त्री दीपा सिन्हा ने लिखा है कि सरकार को किसी दयालु पुरुष रिश्तेदार की तरह पेश करने के बजाय मातृत्व सहायता के तहत महिलाओं के प्रजनन, श्रम और आर्थिक असुरक्षा को मान्यता दी जानी चाहिए। गर्भावस्था, प्रसव और स्तनपान में शारीरिक मेहनत, स्वास्थ्य जोखिम और आय का नुकसान शामिल होता है। असंगठित क्षेत्र में काम करने वाली अधिकतर महिलाओं को इस दौरान सवेतन मातृत्व अवकाश और वित्तीय सुरक्षा नहीं मिलती। सोने की अंगूठी का स्वागत हो सकता है, लेकिन यह किसी महिला की छूटी मजदूरी की भरपाई नहीं करती और न ही पर्याप्त पोषण, प्रसवोत्तर देखभाल और शिशु देखभाल की गारंटी देती है। वे महिलाओं की आर्थिक परिस्थितियों से जुड़े मजबूत मातृत्व अधिकारों और अवैतनिक देखभाल श्रम को औपचारिक पहचान देने की वकालत करती हैं।

यह फर्क बहुत अहम है: कोई उपहार कानूनी अधिकार नहीं होता। उपहार के प्रति कृतज्ञता जताई जा सकती है, लेकिन कानूनी अधिकार व्यवस्था की जवाबदेही तय करता है। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि अंगूठी का कोई मोल नहीं है या जो परिवार इसका स्वागत कर रहे हैं, वे गलत हैं। इसका सीधा अर्थ यह है कि योजना से मिलने वाले भौतिक लाभ और उसके सामाजिक संदेश का आकलन अलग-अलग तराजू पर किया जाना चाहिए। ■

नवजातों के लिए सोने की अंगूठी का स्वागत है, लेकिन 'उपहार कोई अधिकार नहीं है' और यह योजना पितृसत्ता को दर्शाती है

कब और कैसे खत्म होगा संघर्ष? दो आवाजें, दो समाधान

मणिपुर के हालात पर प्रधानमंत्री और केन्द्रीय गृह मंत्री की चुप्पी हैरान करने वाली है। नई दिल्ली में कुछ का मानना है कि भारतीय सेना महज कुछ हफ्तों में शांति बहाल कर सकती है। उन्हें यह ग्रामीणों समझ नहीं आती। इस बीच, केन्द्र के रवैये से निराश मणिपुरी नेता खुली टकराव शुरू करने के अलग-अलग उपाय सुझा रहे हैं।

विधानसभा में रखी गई मणिपुर गृह विभाग की रिपोर्ट के मुताबिक, सितंबर 2026 तक 28,899 आंतरिक रूप से विस्थापित लोग राहत शिविरों और अस्थायी ठिकानों में रहने को मजबूर हैं। अगस्त-सितंबर में हरियाणवी गिरोहों द्वारा आम नागरिकों पर हमलों में तेजी आई है।

अगस्त-सितंबर 2026 के 30 दिनों में सुनियोजित हमलों में पहाड़ी जिलों के 23 लोग मारे गए, जिससे ग्रामीणों को धान के खेतों और जंगलों में शरण लेनी पड़ी। मैतेई और कुकी दोनों ही नई दिल्ली के रवैये से उपेक्षित महसूस कर रहे हैं।

मैतेई समुदाय का मानना है कि मैतेई-बहुल इंफाल घाटी में हालात सुधरे हैं और अब अशांति केवल नगा और कुकी आबादी वाले पहाड़ी इलाकों तक सीमित है। वहीं, कुकी समुदाय का आरोप है कि मैतेई और नगा उनके खिलाफ एकजुट हो चुके हैं। दूसरी ओर, कुकी समुदाय के साथ साझा भूगोल और ईसाई धर्म साझा करने वाले नगा अपने नाग्रा-नुकसान का आकलन करते हुए फूंक-फूंक कर रुख रख रहे हैं।

मैतेई सिविल सोसाइटी के प्रतिनिधि संगठनों के साझा मोर्चे 'कोऑर्डिनेटिंग कमेटी ऑन मणिपुर इंटीग्रिटी' के प्रवक्ता मरंगबाम धनंजय ने सवाल किया: 'अफस्पा लागू होने के बावजूद पहाड़ियों में हिंसा फिर भड़क उठी है। कुकी हरियाणवी समूहों के साथ हुआ ऑपरेशन निलंबन समझौता पहाड़ियों में सख्ती से लागू क्यों नहीं किया जा रहा है?'

सौरम सेन ने इस अंतहीन टकराव पर दोनों पक्षों का नजरिया समझने के लिए 'मैतेई लीपुन' के **प्रमोत सिंह** और 'कुकी इनबी मणिपुर' के प्रवक्ता **पाओलियनलाल हाओकिप** से बातचीत की।

नई दिल्ली में 'इंडिया फॉर मणिपुर' विरोध प्रदर्शन

ड्रग्स वॉर और म्यांमार असली जड़

कुहरपंथी मैतेई नेता और 'मैतेई लीपुन' से जुड़े प्रमोत सिंह अपने संगठन को मैतेई संस्कृति और विरासत का रक्षक बताते हैं, जबकि कुकी इसे आरएसएस से जुड़ा उग्रवादी संगठन करार देते हैं। प्रमोत का मानना है कि मोदी राज्य के संकट को सुलझाने में इसलिए दिलचस्पी नहीं दिखा रहे, क्योंकि म्यांमार के प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जे को लेकर अमेरिका और चीन आमने-सामने हैं: ऐसे में मोदी का कोई भी सीधा दखल मामले को और उलझा सकता है। बातचीत के संपादित अंश:

जातीय टकराव नहीं, ड्रग्स सिंडिकेट की जंग

मणिपुर में जारी हिंसा दरअसल तस्करों द्वारा भड़काया गया 'ड्रग्स वॉर' है, जिसे जातीय संघर्ष का रूप दिया जा रहा है। सभी बड़े ड्रग माफिया ताकतवर सियासी ओहदों पर काबिज हैं। 2006 में यूएनडीपी समर्थित अपने शोध कार्य के दौरान मैंने पाया था कि नेताओं, अराजक तत्वों और सुरक्षा बलों के संरक्षण में चलने वाले सिंडिकेट भारत-म्यांमार सीमा पर मानव, नशीले पदार्थों और हथियारों की तस्करी रैकेट चला रहे हैं।

कुकियों को साधने में सरकार नाकाम

कुकी समूहों के साथ ऑपरेशन निलंबन समझौते को रद्द करने के लिए विधानसभा में दो प्रस्ताव पारित किए जा चुके हैं। लेकिन कोई सुनने को तैयार नहीं। हाल ही में मेरी भेंट विहिप के एक नेता से हुई, जिन्होंने मुझसे कहा कि हिंसा में नष्ट हुए मंदिरों के पुनर्निर्माण में कुकी सहयोग करेंगे। अगर ऐसा है, तो केन्द्र सरकार कुकी हथियारबंद गुटों को मैतेई समुदाय को परेशान न करने की हिदायत क्यों नहीं दे सकती? स्थानीय भाजपा कहती है कि समझौता कांग्रेस लाई थी। तो भाजपा सरकार इसे खत्म क्यों नहीं कर देती? किसी को- यहां तक कि राज्य सरकार को भी नहीं पता कि बंद कमरों में इस त्रिपक्षीय समझौते की मियाद बढ़ाने का फैसला किसने लिया।

प्रधानमंत्री के हस्तक्षेप से संकट भू-राजनीतिक रूप ले सकता है

अमेरिका पूरे इलाके में दिलचस्पी ले रहा है ताकि वह म्यांमार के ऊर्जा और अहम खनिज संसाधनों पर चीन का कब्जा रोक सके। यही उन तमाम कारणों में से एक है जिसके चलते मोदी मणिपुर पर खामोश हैं। एक संवेदनशील सीमावर्ती इलाके में उनका सीधा दखल इस टकराव को अंतरराष्ट्रीय भू-राजनीतिक पेचीदगियों में उलझा सकता है, जो अब तक स्थानीय स्तर तक सीमित रहा है।

बंटवारा समाधान नहीं

कुकी होमलैंड परियोजना में कुकी पारंपरिक कानून ही सर्वोपरि होंगे। इसी तरह 'नागालिम' में तमाम सामाजिक व्यवस्थाएं नगा पारंपरिक कानूनों के अधीन होंगी। मणिपुर की परंपरा सामुदायिक सह-अस्तित्व और परस्पर सम्मान की रही है। हमारे पुरखों ने ऐसे ही इस सरजमीं की हिफाजत की। मणिपुर ऐसे ही बचा रह सकता है। कुकी होमलैंड की अवधारणा कामयाब नहीं हो सकती क्योंकि मैतेई, नगा और अन्य इसके लिए राजी नहीं होंगे। नागालिम भी लागू नहीं हो सकता क्योंकि मैतेई, कुकी और अन्य समुदाय इसे स्वीकार नहीं करेंगे।

राज्य के तीन हिस्से हों

चुराचांदपुर जिले के साइकोट विधानसभा क्षेत्र से भाजपा विधायक और कुकी शीर्ष संस्था 'कुकी इनपी मणिपुर' के प्रवक्ता पाओलियनलाल हाओकिप का मानना है कि मणिपुर को मैतेई, नगा और कुकियों के लिए विभाजन ही स्थायी हल है। उनका सुझाव है कि भारत को म्यांमार में सैन्य हस्तक्षेप करके नगा पुर कुकी व नगा-बहुल क्षेत्रों को मिला लेना चाहिए। बातचीत के संपादित अंश:

राज्य के मामले पर मोदी की हैरान करने वाली चुप्पी के पीछे कोई भू-राजनीतिक कारण हो सकता है

पहाड़ी लोगों को एकजुट होना होगा

प्रधानमंत्री समेत पूरी केन्द्र सरकार मणिपुर पर खामोश है। हालांकि, जब तक मणिपुर के पहाड़ी लोगों को विकास के भेदभाव से बचाने वाला कोई ठोस राजनीतिक समाधान नहीं निकलता, स्थायी शांति मुमकिन नहीं। नगाओं का एक तबका भले मैतेई-कुकी टकराव का फायदा उठाने की फिराक में हो, लेकिन 'समझदार' नगा महसूस करते हैं कि आदिवासी पहाड़ी समुदाय को सुरक्षित बस्तियों में एक साथ होना चाहिए, ताकि मैतेई उनके आंतरिक मामलों में दखल न दे सकें। मणिपुर को तीन हिस्सों में बांटना ही रास्ता है। संभव है कि साल भर कुछ अशांति रहे, लेकिन म्यांमार की सीमा से सटे इस संवेदनशील राज्य में यह मसला हमेशा के लिए सुलझ जाएगा।

आक्रामक हो विदेश नीति

म्यांमार के सागाइंग डिवीजन में नगा और कुकी समुदाय की बड़ी आबादी रहती है। वे सैन्य शासन के खिलाफ हैं। भारत को अपनी सीमाओं के विस्तार पर विचार करना चाहिए। म्यांमार निस्संदेह ऐसे किसी भी कदम का पुरजोर विरोध करेगा, लेकिन अगर हम दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र होने का दावा करते हैं, तो हमें सागाइंग के लोगों की लोकतांत्रिक आकांक्षाओं का समर्थन करना चाहिए। जब बात पड़ोस की आती है, तो भारत की विदेश नीति आधी-अधूरी नजर आती है। ■

सौरम सेन वक्तव्यांश में रहने वाले लेखक व पत्रकार है

बीजेडी की उत्तराधिकार परीक्षा

नवीन पटनायक की 'चुनी हुई उत्तराधिकारी' सुजाता राउत कार्तिकेयन को मिली-जुली प्रतिक्रियाओं और बड़ी चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है

एन.आर. मोहती

चौबीस वर्षों तक नवीन पटनायक ओडिशा की राजनीति के बेताज बादशाह रहे। हालांकि, 2024 के चुनावों ने एक निर्णायक मोड़ ला दिया जब भाजपा ने 79 विधानसभा सीटें जीतीं और सहयोगियों के साथ मिलकर सरकार बनाई। बीजेडी को केवल 50 सीटें मिलीं। बात यहीं खत्म नहीं हुई। इसके साथ ही हुए लोकसभा चुनावों में भाजपा ने 21 में से 20 लोकसभा सीटों पर कब्जा कर लिया और नवीन पटनायक के लंबे शासन का अंत कर दिया। अब बीजेडी की सत्ता में वापसी पूर्व आईएएस अधिकारी सुजाता राउत कार्तिकेयन के इर्द-गिर्द केन्द्रित उत्तराधिकार परीक्षा का सामना कर रही है।

जन्म से उड़िया और पूर्व आईएएस अधिकारी सुजाता नवीन पटनायक के भरोसेमंद निजी सचिव और उनके लंबे कार्यकाल के दौरान पर्दे के पीछे से सत्ता चलाने वाले सर्वशक्तिमान वी. कार्तिकेयन पांडियन की पत्नी हैं। पांडियन का दबदबा बेहद निर्णायक था; मुख्यमंत्री तक पहुंच उनके ही हाथ में थी और उन्हें पटनायक के सत्ता में लंबे समय तक बने रहने का सूत्रधार माना जाता था। फिर भी, भाजपा 2024 के ऐतिहासिक चुनाव में पांडियन को एक ऐसे बाहरी व्यक्ति के रूप में चित्रित करने में सफल रही, जिसने तमिलनाडु के दोहन किया, और इससे बीजेडी की साख को गहरा धक्का पहुंचा।

क्या सुजाता बीजेडी को पुनर्जीवित करने में कामयाब होंगी? इस सवाल ने राजनीतिक गलियारों में हलचल मचा दी है। कुछ लोगों का कहना है कि वह बीजेडी में नई जान फूंकने और उसका पुराना गौरव लौटा पाएंगी, वहीं अन्य का मानना है कि जब कमान औपचारिक रूप से पटनायक के हाथ से निकलेगी, तो पार्टी दो-फाड़ हो जाएगी। असलियत शायद इन दोनों के बीच कहीं छिपी है।

सुजाता और पांडियन का केरियर ओडिशा की राजनीतिक यात्रा से गहराई से जुड़ा हुआ है। दोनों आईएएस अधिकारियों को 2000 में ओडिशा कैडर मिला था- वही साल जब पटनायक ने बीजेडी-भाजपा गठबंधन के मुखिया के रूप में सत्ता की बागडोर संभाली थी।

2007 में गंजम के जिला कलक्टर के रूप में, जो पटनायक का पैतृक गृह क्षेत्र और उनका विधानसभा क्षेत्र (हिंजिली) भी था, पांडियन ने एक मेहनती, सक्षम और हर काम को अंजाम तक पहुंचाने वाले तेजतर्रार अफसर के तौर पर मुख्यमंत्री को खासा प्रभावित किया- एक ऐसा अफसर जो बिना किसी सवाल या हिचकिचाहट के मुख्यमंत्री के आदेशों को अमलीजामा पहना सकता था। 2011 तक पांडियन मुख्यमंत्री के निजी सचिव बन गए, और इस पद पर वह 12 वर्षों तक रहे। इस दौरान पांडियन पार्टी नेताओं से लेकर उद्योगपतियों तक हर किसी के लिए गेटकीपर बन गए; वह पदोन्नतियों, आवंटनों और नीतिगत फैसलों को निगरानी करते थे और नवीन पटनायक ने अपनी अधिकांश शक्तियां वस्तुतः उन्हें ही सौंप रखी थीं। उन्हें पटनायक की छाया माना जाता था।

पांडियन लगभग नवीन निवास में ही रहने लगे थे- वह निजी आवास जो मुख्यमंत्री को अपने पिता बीजू पटनायक से विरासत में मिला था। वह अक्सर मुख्यमंत्री के आधिकारिक विमान से यात्रा करते और पटनायक को प्रत्यक्ष तौर पर शामिल किए बिना ही परियोजनाओं का उद्घाटन करते थे। मुख्यमंत्री तक पहुंच पर उनका कड़ा पहरा था। यहां तक कि वरिष्ठ मंत्री भी पांडियन की अनुमति के बिना मुख्यमंत्री से नहीं मिल सकते थे। इसी एकाधिकार ने असंतोष के बीज भी बोए।

जब पांडियन ने मई 2024 के विधानसभा और लोकसभा चुनावों से सुधिकल से छह महीने पहले स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति ली और औपचारिक रूप से बीजेडी में शामिल हुए, तो योजना यह थी कि उन्हें आधिकारिक तौर पर पटनायक का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया जाए। लेकिन यह योजना धरी की धरी रह गई। भाजपा ने अपना पूरा ध्यान पांडियन पर केन्द्रित कर दिया। उनके कथित भ्रष्टाचार और 'बाहरी' होने के तमगे को उछालने के लिए चुनावी माहौल पूरी तरह अनुकूल साबित हुआ। वाट्सएप संदेशों और सोशल मीडिया वीडियो के जरिये यह बात गहराई से बैठाई गई कि पांडियन ने ओडिशा की कीमत पर अपने गृह राज्य तमिलनाडु को संपन्न बनाया।

*

जैसे-जैसे चुनाव प्रचार तेज हुआ, प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने खुद इन आरोपों को धार दी। एक के बाद एक रैलियों में उन्होंने पार्टी के इस नैरेटिव को दोहराया कि पांडियन ने ओडिशा की संपत्ति लूटकर अपने गृह राज्य भेज दी। उन्होंने यहां तक आरोप लगाया कि जगन्नाथ मंदिर के रत्न भंडार के भीतरी कक्ष की लापता चाबियां तमिलनाडु भेज दी गई हैं। भाजपा ने 'उड़िया अस्मिता' को चुनाव प्रचार की धुरी बना दिया और पांडियन को पूरी पटकथा का खलनायक बनाकर पेश किया। यह दांव चल गया।

चौबीस साल बाद सत्ता से बाहर होने पर बीजेडी कार्यकर्ताओं और नेताओं का गुस्सा फूट पड़ा। इस अपमानजनक पराजय का ठीकरा सीधे तौर पर पांडियन के सिर फोड़ा गया। माहौल के इस रुख को भांपते हुए पांडियन ने एक वीडियो जारी कर सक्रिय राजनीति से संन्यास लेने का ऐलान कर दिया, भले ही पटनायक उन्हें अपना स्वाभाविक उत्तराधिकारी मानते रहे।

लेकिन समय तेजी से बीत रहा था। मुख्यमंत्री का स्वास्थ्य गिरते देख पांडियन को कमान अपने हाथ में रखने की जरूरत थी। यहीं से सुजाता की एंट्री होती है। गणित बिल्कुल साफ था: उन पर 'बाहरी' का ठप्पा नहीं लगाया जा सकता था। उनके परिवार की जड़ें केंद्रपाड़ा में हैं, जिस क्षेत्र का संसद में कभी बीजू पटनायक ने प्रतिनिधित्व किया था।

*

सुजाता ने मार्च 2025 में, बीजेडी की राज्य परिषद की बैठक से मुश्किल से एक महीने पहले, स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति ले ली। यह कयास जोरों पर था कि पटनायक उन्हें पार्टी का कार्यकारी अध्यक्ष बनाएंगे, जिससे वह प्रभावी रूप से उनकी राजनीतिक उत्तराधिकारी बन जाएंगी। लेकिन 'प्रॉक्सी तमिल शासन' का विरोध कर रहे वरिष्ठ नेताओं की तीखी बगावत ने ऐसी किसी भी घोषणा पर रोक लगा दी। पांडियन ने सही वक्त का इंतजार करना बेहतर समझा।

इस साल जून में सुजाता एक 'साधारण' सदस्य के तौर पर पार्टी में शामिल हुईं। गौरतलब है कि पटनायक ने उनकी उड़िया पहचान पर जोर देते हुए और उन्हें तमिल जुड़ाव से अलग दिखाते हुए उनका परिचय सुजाता राउत के रूप में कराया।

पिछले कुछ महीनों में, जिन लोगों ने पांडियन के दौर में मलाई काटी थी, वे अब सुजाता के करीब आ रहे हैं, जबकि अन्य नेता सतर्क दूरी बनाए हुए हैं। राजनीतिक विश्लेषकों का मानना है कि नवीन पटनायक के उत्तराधिकार की रणनीति निरंतरता और छवि-प्रबंधन का एक मिलाजुला रूप दिखाती है, लेकिन साथ ही यह व्यक्ति- केन्द्रित नेतृत्व मॉडल की कमजोरियों को भी बेनकाब करती है। इसका नतीजा क्या होगा, देखना होगा। ■

एन.आर. मोहती नई दिल्ली में रहने वाले स्तंभकार और हिन्दुस्तान टाइम्स के पूर्व स्थानीय संपादक है

नवीन प

दुर्गा पूजा पर चढ़ा भाजपाई रंग

गुजरात की इवेंट फर्म, अडानी के पुरस्कार, शेरावाली और जगराते के नए तौर-तरीकों से गैर-पारंपरिक तत्वों की पैठ

ईडन गार्डन्स में तेजर-एंड-ड्रोन का नज़ारा

सौरम सेन और कुणाल चटर्जी

कोलकाता ही नहीं, समूचा पश्चिम बंगाल गहरे सांस्कृतिक आघात का गवाह बन रहा है। सत्ता के नशे में चूर राज्य की नई भाजपा सरकार इस साल दुर्गा पूजा को लेकर अतिउत्साहित है। अंतरराष्ट्रीय स्तर के पैदल प्लाजा से प्रेरित होकर व्यस्त फ्लाईओवर को सतरंगी रंगों में रंगने से लेकर 1864 के ऐतिहासिक क्रिकेट स्टेडियम ईडन गार्डन्स में एक तड़क-भड़क भरे आयोजन पर 180 करोड़ रुपये की भारी-भरकम रकम लुटाने तक, राज्य ने ऐसा उत्सव देखा है जो पहले कभी नहीं हुआ। इस आयोजन के लिए गुजरात की कंपनी 'गोवनानाज' को लगभग 180 करोड़ रुपये दिए गए- यह ऐसा आंकड़ा है जिसकी आधिकारिक पुष्टि तो नहीं हुई, पर इसका खंडन भी नहीं किया गया। 10 अक्टूबर के इस आयोजन के बाद से यह आंकड़ा सुर्खियों में है और सरकार ने इस पर कोई आपत्ति नहीं की है।

स्थानीय इवेंट प्रबंधकों और प्रतिभाओं की अनदेखी के चलते उपजी तीखी आलोचनाओं से घिरे राज्य के वित्त मंत्री स्वपन दासगुप्ता ने इसका ठीकरा स्थानीय कंपनियों के सिर ही फोड़ दिया। एक निजी कार्यक्रम में उन्होंने सफाई पेश की। राज्य की इवेंट मैनेजमेंट कंपनियों पर दोष मढ़ते हुए उन्होंने कहा, 'हमें उम्मीद है कि पश्चिम बंगाल की कंपनियां इससे सबक लेंगी और अगले साल बड़ी भूमिका के लिए तैयार रहेंगी।' लेकिन दासगुप्ता यह बताना भूल गए कि सरकारी निविदा के कड़े नियमों ने स्थानीय कंपनियों के लिए बोली लगाना असंभव-सा बना दिया था।

सरकार के निमंत्रण प्रस्ताव (आरएफपी) में एक करोड़ रुपये की भारी वयाना राशि और तीन प्रतिशत की परफॉरमेंस सिक्योरिटी मांगी गई थी जो अधिकतर स्थानीय कंपनियों के बूते से बाहर की बात थी। इससे भी अधिक निर्णायक शर्त यह थी कि बोलीदाताओं का पिछले दशक में औसत वार्षिक कारोबार कम-से-कम 50 करोड़ रुपये होना चाहिए और सरकारी परियोजनाओं के तहत 20 करोड़ रुपये या उससे अधिक लागत वाले राष्ट्रीय या अंतरराष्ट्रीय आयोजनों को संचालित करने का अनुभव अनिवार्य था। इसने स्थानीय कंपनियों की संभावनाओं पर पानी फेर दिया।

ठेका गुजराती फर्म को मिला। वैसे, यह तय ही माना जा रहा था। मगर जिस फिजूलखर्ची और अंदाज में यह सब हुआ, उसने सबकी भृकुटियां तान दीं। मुख्यमंत्री शुभेंदु अधिकारी ने इस आयोजन में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी और केन्द्रीय गृह मंत्री अमित शाह को आमंत्रित किया था, जिससे इस 'बेहिसाब खर्च' की वजह समझ आती है। लेकिन विख्यात गायकों की मौजूदगी, भड़कीले लेजर शो और ड्रोन के तमाशे ने कई पारंपरिक बंगालियों की भावनाओं को गहरी ठेस पहुंचाई। इस त्योहार की रूह, यानी पवित्र धुनुची नृत्य को एक तरह के अश्लील व भद्दे डांस के पैरोडी में तब्दील कर दिया गया।

इस होड़ में पीछे न रहते हुए, अडानी समूह ने भी आठ चुनिंदा पूजा पंडालों को पुरस्कृत कर अपनी ब्रांडिंग का आगाज किया। राज्य भर में आयोजित होने वाली करीब 40,000 'सर्वजनीन' पूजाओं में से आठ को खुले दिल से नवाजा गया। मूर्तिकारों को 10-10 लाख और आयोजकों को 15-15 लाख रुपये दिए गए। समूह ने चुनिंदा पूजा पंडालों के निर्बाध दर्शन के लिए 'पहले आओ, पहले पाओ' के आधार पर एक लाख लोगों का पंजीकरण भी कराया। समूह के इंतजाम के प्रचार के लिए सोशल मीडिया इन्फ्लुएंसर्स को विशेष अतिथि बनाया गया।

अडानी समूह के सलाहकार संजय थोटे ने कहा, 'हम कोलकाता की दुर्गा पूजा की भव्यता को अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय प्रतिनिधियों के सामने प्रदर्शित करना चाहते हैं ताकि यह दुनिया के सबसे जाने-पहचाने त्योहारों में शुमार हो सके।' कोई भी यह सोच सकता है कि क्या उन्हें मालूम था कि 2021 में कोलकाता की दुर्गा पूजा यूनेस्को की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत सूची में शामिल होने वाला पहला पारंपरिक त्योहार बनी थी। यह हवा का रुख भांपने की एक सोची-समझी ब्रांडिंग कवायद थी। समूह ने कुम्हारों और मूर्तिकारों के उस मशहूर पारंपरिक गांव 'कुमारतुली' का कायाकल्प करने का भी बीड़ा उठाया है जहां ये मूर्तियां गढ़ी जाती हैं।

इस साल 'बाहरी' प्रभाव केवल यहीं तक सीमित नहीं रहा; वह बहुत मुखर दिखा। भाजपा नेताओं द्वारा जारी हर दूसरे पूजा पोस्टर में बांग्ला भाषा और धार्मिक प्रतीकों के साथ छेड़छाड़ की गई। मां दुर्गा को उनके पावन दशभुजा रूप के बजाय आठ, नौ, ग्यारह या बारह भुजाओं के साथ दर्शाया गया। यहां तक कि कोलकाता नगर निगम द्वारा जारी आधिकारिक सूचनाओं और एक विज्ञापन में भी 'गैर-बंगाली' दखल के स्पष्ट संकेत मिले। कोलकाता नगर निगम के विज्ञापनों में हिन्दी शब्द 'स्वच्छता' का इस्तेमाल किया गया, जिसका अर्थ हिन्दी में तो सफाई होता है, लेकिन बांग्ला में 'पारदर्शिता' होता है।

संचार विशेषज्ञ श्रीराज मित्रा ने कहा, 'मैं इस गड़बड़ी के लिए एआई-संचालित अनुवाद सॉफ्टवेयर पर अत्यधिक निर्भरता और भाषाई कौशल की कमी को जिम्मेदार मानूंगा। इसके अलावा, बंगालियों का एक तबका इन बाहरी एजेंसियों के हाथों बांग्ला भाषा की हत्या में साझीदार बन गया है।'

प्रसार भारती के पूर्व सीईओ और भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय के पूर्व सचिव जवाहर सरकार ने राज्य की भाजपा सरकार को नसीहत दी कि वह बंगालियों को यह न सिखाए कि दुर्गा का स्वागत कैसे किया जाता है। सरकार ने चुटकी लेते हुए कहा, 'जिन्होंने यह किया है, वे शायद इससे अनजान हैं कि बांग्ला और हिन्दी की वाक्य-संरचना और बारीकियों में जमीन-आसमान का फर्क है।'

जमीनी अनुभव बताते हैं कि इस साल मांसाहारी भोजन के स्टॉल कम लगे हैं। इसका खास ख्याल रखा जा रहा है कि पृष्ठभूमि में देवी दुर्गा की तस्वीर लगाकर मांसाहारी व्यंजनों का विज्ञापन न किया जाए। खुले तौर पर राष्ट्रवादी और धार्मिक विषयों का चलन तेजी से बढ़ा है। जागरण और शेरावाली के स्वरूप ने अपनी दमदार आमद दर्ज कराई है; और भाजपा नेताओं में अपने-अपने इलाकों की पूजा आयोजनों पर कब्जिह होने की होड़ मची है। हिन्दी भजनों और हनुमान चालीसा की भारी मांग है, और एक हिन्दू संगठन ने अलीमुद्दीन स्ट्रीट स्थित मार्क्स कार्यालय के बाहर 24 घंटे का चंडीपाठ करने के लिए जगह घेर ली है।

जब वामपंथियों ने देखा कि उनके 60 साल पुराने पारंपरिक बुकस्टॉल पर हिन्दुत्ववादी संगठन का कब्जा हो गया है, तो उन्हें अदालत का दरवाजा खटखटाना पड़ा, जबकि पुलिस मूकदर्शक बनी रही।

सांस्कृतिक कार्यक्रमों के स्थानीय प्रायोजक - जो आमतौर पर बिल्डर होते हैं - इस साल ढूंढे नहीं मिल रहे, क्योंकि वे जाहिर तौर पर नए हुक्मरानों के साथ लेन-देन और कमीशन की शर्तों पर मोलभाव में उलझे हैं। बिल्डरों का कहना है कि अलग-अलग स्तरों के नेता अपनी ताकत की नुमाइश कर रहे हैं।

इस सब का एक और असर यह हुआ कि बांग्ला में नए गानों के एल्बम जारी करने की परंपरा भी आहत हुई है। पुराने जानकारों का दर्द है कि नवरात्रि, गरबा के आयोजनों और हिन्दी भक्ति गीतों ने पारंपरिक बंगाली संस्कृति को हाशिये पर धकेल दिया है। वाकई, यह एक बिल्कुल नया और अजनबी अनुभव है! ■

दुर्गा के आठ, नौ, ग्यारह या बारह हाथ होने की और क्या व्याख्या हो सकती है?

हक़ दर-किनार, ख़ैरात की बहार

विधानसभा उपचुनावों से ठीक पहले राज्य की नई स्वर्ण अंगूठी योजना

के.ए. शाजी

विधानसभा उपचुनावों से ऐन पहले राज्य के नवजातों के लिए 'थाईमामन' (मामा) बनने का तमिलनाडु के मुख्यमंत्री सी. जोसेफ विजय का फैसला वैसा आत्मीय और निस्वार्थ कल्याणकारी कदम नहीं है जैसा उनकी सरकार प्रचारित कर रही है।

मदुरै में 28 सितंबर को शुरू की गई 'थाईमामन थंगा मोथिरम' योजना के तहत राज्य के सरकारी अस्पतालों या स्वास्थ्य केन्द्रों में 22 जून 2026 को या उसके बाद जन्मे बच्चों को 1 ग्राम की 22 कैरेट सोने की अंगूठी दी जा रही है। यह योजना विजय की पार्टी टीवीके (तमिलगा वेत्री कड़गम) का चुनावी वादा थी, लेकिन इसे 6 अक्तूबर को मदुरैंतकम और धारापुरम विधानसभा सीटों पर होने वाले उपचुनावों से चंद रोज पहले लागू किया गया, जिस पर विपक्षी डीएमके ने तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की है।

चूंकि अंगूठी योजना को 23 जून को ही मंत्रिमंडल द्वारा औपचारिक मंजूरी और बजट आवंटन के बाद अधिसूचना निकल चुकी थी, इसलिए इसे कानूनी रूप से चुनाव-पूर्व प्रलोभन के बजाय पहले से स्वीकृत और जारी नीति माने जाने की सहूलियत मिल गई।

डीएमके सांसद कनिमोझी करुणानिधि का तर्क है कि महिलाओं को पुरुष रिश्तेदारों के रस्म-रिवाजी उपहारों पर निर्भर रहने के बजाय आर्थिक रूप से स्वावलंबी बनने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। द्रविड़ आंदोलन के महिला आत्मनिर्भरता के सिद्धांत का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा, 'संपत्ति, शिक्षा और आमदनी में आपका बराबर का हक है। कमाइए और सिर उठाकर जिएं।' तमिलनाडु में इस दलील के कई पैरोकार हैं। आलोचक सवाल कर रहे हैं कि क्या महिला कल्याण को एक कानूनी अधिकार के बजाय किसी दयालु पुरुष की सौगात के रूप में पेश किया जाना चाहिए?

कनिमोझी ने विजय सरकार की प्राथमिकताओं पर भी सवाल उठाए और सरकारी अस्पतालों में डॉक्टरों और जरूरी दवाओं की उपलब्धता बेहतर करने के बजाय सोने की अंगूठी योजना में जनता का पैसा लगाने पर गहरी चिंता जताई है।

*

23 जून के सरकारी आदेश में लगभग 4.42 लाख नवजात लाभार्थियों के लिए इस योजना पर सालाना 755.83 करोड़ रुपये का आवंटन किया गया है। ये अंगूठियां 22 कैरेट सोने की हैं और इन पर विशिष्ट सीरियल नंबर दर्ज हैं।

योजना की पात्रता सरकारी स्वास्थ्य संस्थानों में प्रसव, गर्भावस्था एवं शिशु निगरानी व मूल्यांकन प्रणाली (पिकमी) के तहत पंजीकरण और प्रजनन एवं बाल स्वास्थ्य (आरसीएच) पहचान संख्या रखने के साथ-साथ लागू आवासीय शर्तों से जुड़ी है। इस वित्तीय आवंटन ने सरकार की प्राथमिकताओं के टकराव को लेकर सवाल खड़े कर दिए हैं। कनिमोझी की आलोचना सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा को सुदृढ़ करने पर केन्द्रित है, वहीं उनकी पार्टी की सहयोगी और लोकसभा सदस्य तमिलाची थंगपांडियन ने कई सरकारी अस्पतालों में समय से पहले जन्मे बच्चों में सांस की तकलीफ के इलाज वाली जीवनरक्षक दवाओं की कमी की ओर ध्यान दिलाया।

मद्रास इंस्टीट्यूट ऑफ डेवलपमेंट स्टडीज के पूर्व संकाय सदस्य सी. लक्ष्मण कहते हैं, 'असली चुनौती यह सुनिश्चित करने की है कि कोई नई पहल उन बुनियादी सेवाओं की पूरक बने जिन पर जरूरतमंद परिवार निर्भर हैं, न कि वह उन बुनियादी सेवाओं को ही पीछे धकेल दे।'

*

तमिल पारिवारिक परंपराओं में 'थाईमामन' का एक खास स्थान होता है। वह शादी के बाद भी अक्सर अपनी बहन और उसके बच्चों के साथ गहरा नाता बनाए रखता है, और बच्चे के जन्म व परिवार के अन्य संस्कारों के दौरान उपहार भेंट करता है।

सोना, कपड़े और नकदी स्नेह प्रकट कर सकते हैं, मातृ-पक्ष के परिवार से रिश्ते मजबूत कर सकते हैं और आर्थिक संबल भी दे सकते हैं। गरीब परिवारों के लिए ऐसे उपहारों का व्यावहारिक महत्व होता है। सोने को संपत्ति के तौर पर रखा जा सकता है या किसी वित्तीय आपातकाल में गिरवी रखा जा सकता है। सरकार द्वारा दी जाने वाली अंगूठी परिवार को सामाजिक व पारंपरिक अपेक्षाओं के दबाव से भी राहत दिला सकती है।

मदुरै में योजना के शुभारंभ पर मारीसेल्वी नामक एक महिला लाभार्थी ने कहा कि अपने भाई से उनकी बोलचाल बंद है और वह विजय को ही अपना भाई मानती हैं। प्रगतिशील हलकों की आपत्तियों के बावजूद अधिकतर गरीब लोग इस भौतिक सहायता और योजना के भावनात्मक ताने-बाने की सराहना ही करेंगे।

'द न्यूज मिनट' में विकास अर्थशास्त्री दीपा सिन्हा ने लिखा है कि सरकार को किसी दयालु पुरुष रिश्तेदार की तरह पेश करने के बजाय मातृत्व सहायता के तहत महिलाओं के प्रजनन, श्रम और आर्थिक असुरक्षा को मान्यता दी जानी चाहिए। गर्भावस्था, प्रसव और स्तनपान में शारीरिक मेहनत, स्वास्थ्य जोखिम और आय का नुकसान शामिल होता है। असंगठित क्षेत्र में काम करने वाली अधिकतर महिलाओं को इस दौरान सवेतन मातृत्व अवकाश और वित्तीय सुरक्षा नहीं मिलती। सोने की अंगूठी का स्वागत हो सकता है, लेकिन यह किसी महिला की छूटी मजदूरी की भरपाई नहीं करती और न ही पर्याप्त पोषण, प्रसवोत्तर देखभाल और शिशु देखभाल की गारंटी देती है। वे महिलाओं की आर्थिक परिस्थितियों से जुड़े मजबूत मातृत्व अधिकारों और अवैतनिक देखभाल श्रम को औपचारिक पहचान देने की वकालत करती हैं।

यह फर्क बहुत अहम है: कोई उपहार कानूनी अधिकार नहीं होता। उपहार के प्रति कृतज्ञता जताई जा सकती है, लेकिन कानूनी अधिकार व्यवस्था की जवाबदेही तय करता है। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि अंगूठी का कोई मोल नहीं है या जो परिवार इसका स्वागत कर रहे हैं, वे गलत हैं। इसका सीधा अर्थ यह है कि योजना से मिलने वाले भौतिक लाभ और उसके सामाजिक संदेश का आकलन अलग-अलग तराजू पर किया जाना चाहिए। ■

नवजातों के लिए सोने की अंगूठी का स्वागत है, लेकिन 'उपहार कोई अधिकार नहीं है' और यह योजना पितृसत्ता को दर्शाती है

कब और कैसे खत्म होगा संघर्ष? दो आवाजें, दो समाधान

मणिपुर के हालात पर प्रधानमंत्री और केन्द्रीय गृह मंत्री की चुप्पी हैरान करने वाली है। नई दिल्ली में कुछ का मानना है कि भारतीय सेना महज कुछ हफ्तों में शांति बहाल कर सकती है। उन्हें यह ग्रामीणों समझ नहीं आती। इस बीच, केन्द्र के रवैये से निराश मणिपुरी नेता खुली टकराव शुरू करने के अलग-अलग उपाय सुझा रहे हैं।

विधानसभा में रखी गई मणिपुर गृह विभाग की रिपोर्ट के मुताबिक, सितंबर 2026 तक 28,899 आंतरिक रूप से विस्थापित लोग राहत शिविरों और अस्थायी ठिकानों में रहने को मजबूर हैं। अगस्त-सितंबर में हरियाणवी गिरोहों द्वारा आम नागरिकों पर हमलों में तेजी आई है।

अगस्त-सितंबर 2026 के 30 दिनों में सुनियोजित हमलों में पहाड़ी जिलों के 23 लोग मारे गए, जिससे ग्रामीणों को धान के खेतों और जंगलों में शरण लेनी पड़ी। मैतेई और कुकी दोनों ही नई दिल्ली के रवैये से उपेक्षित महसूस कर रहे हैं।

मैतेई समुदाय का मानना है कि मैतेई-बहुल इंफाल घाटी में हालात सुधरे हैं और अब अशांति केवल नगा और कुकी आबादी वाले पहाड़ी इलाकों तक सीमित है। वहीं, कुकी समुदाय का आरोप है कि मैतेई और नगा उनके खिलाफ एकजुट हो चुके हैं। दूसरी ओर, कुकी समुदाय के साथ साझा भूगोल और ईसाई धर्म साझा करने वाले नगा अपने नाग्रा-नुकसान का आकलन करते हुए फूंक-फूंक कर रुख रख रहे हैं।

मैतेई सिविल सोसाइटी के प्रतिनिधि संगठनों के साझा मोर्चे 'कोऑर्डिनेटिंग कमेटी ऑन मणिपुर इंटीग्रिटी' के प्रवक्ता मरंगबाम धनंजय ने सवाल किया: 'अफस्पा लागू होने के बावजूद पहाड़ियों में हिंसा फिर भड़क उठी है। कुकी हरियाणवी समूहों के साथ हुआ ऑपरेशन निलंबन समझौता पहाड़ियों में सख्ती से लागू क्यों नहीं किया जा रहा है?'

सौरम सेन ने इस अंतहीन टकराव पर दोनों पक्षों का नजरिया समझने के लिए 'मैतेई लीपुन' के **प्रमोत सिंह** और 'कुकी इनबी मणिपुर' के प्रवक्ता **पाओलियनलाल हाओकिप** से बातचीत की।

नई दिल्ली में 'इंडिया फॉर मणिपुर' विरोध प्रदर्शन

ड्रग्स वॉर और म्यांमार असली जड़

कुहरपंथी मैतेई नेता और 'मैतेई लीपुन' से जुड़े प्रमोत सिंह अपने संगठन को मैतेई संस्कृति और विरासत का रक्षक बताते हैं, जबकि कुकी इसे आरएसएस से जुड़ा उग्रवादी संगठन करार देते हैं। प्रमोत का मानना है कि मोदी राज्य के संकट को सुलझाने में इसलिए दिलचस्पी नहीं दिखा रहे, क्योंकि म्यांमार के प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जे को लेकर अमेरिका और चीन आमने-सामने हैं: ऐसे में मोदी का कोई भी सीधा दखल मामले को और उलझा सकता है। बातचीत के संपादित अंश:

जातीय टकराव नहीं, ड्रग्स सिंडिकेट की जंग

मणिपुर में जारी हिंसा दरअसल तस्करों द्वारा भड़काया गया 'ड्रग्स वॉर' है, जिसे जातीय संघर्ष का रूप दिया जा रहा है। सभी बड़े ड्रग माफिया ताकतवर सियासी ओहदों पर काबिज हैं। 2006 में यूएनडीपी समर्थित अपने शोध कार्य के दौरान मैंने पाया था कि नेताओं, अराजक तत्वों और सुरक्षा बलों के संरक्षण में चलने वाले सिंडिकेट भारत-म्यांमार सीमा पर मानव, नशीले पदार्थों और हथियारों की तस्करी रैकेट चला रहे हैं।

कुकियों को साधने में सरकार नाकाम

कुकी समूहों के साथ ऑपरेशन निलंबन समझौते को रद्द करने के लिए विधानसभा में दो प्रस्ताव पारित किए जा चुके हैं। लेकिन कोई सुनने को तैयार नहीं। हाल ही में मेरी भेंट विहिप के एक नेता से हुई, जिन्होंने मुझसे कहा कि हिंसा में नष्ट हुए मंदिरों के पुनर्निर्माण में कुकी सहयोग करेंगे। अगर ऐसा है, तो केन्द्र सरकार कुकी हथियारबंद गुटों को मैतेई समुदाय को परेशान न करने की हिदायत क्यों नहीं दे सकती? स्थानीय भाजपा कहती है कि समझौता कांग्रेस लाई थी। तो भाजपा सरकार इसे खत्म क्यों नहीं कर देती? किसी को- यहां तक कि राज्य सरकार को भी नहीं पता कि बंद कमरों में इस त्रिपक्षीय समझौते की मियाद बढ़ाने का फैसला किसने लिया।

प्रधानमंत्री के हस्तक्षेप से संकट भू-राजनीतिक रूप ले सकता है

अमेरिका पूरे इलाके में दिलचस्पी ले रहा है ताकि वह म्यांमार के ऊर्जा और अहम खनिज संसाधनों पर चीन का कब्जा रोक सके। यही उन तमाम कारणों में से एक है जिसके चलते मोदी मणिपुर पर खामोश हैं। एक संवेदनशील सीमावर्ती इलाके में उनका सीधा दखल इस टकराव को अंतरराष्ट्रीय भू-राजनीतिक पेचीदगियों में उलझा सकता है, जो अब तक स्थानीय स्तर तक सीमित रहा है।

बंटवारा समाधान नहीं

कुकी होमलैंड परियोजना में कुकी पारंपरिक कानून ही सर्वोपरि होंगे। इसी तरह 'नागालिम' में तमाम सामाजिक व्यवस्थाएं नगा पारंपरिक कानूनों के अधीन होंगी। मणिपुर की परंपरा सामुदायिक सह-अस्तित्व और परस्पर सम्मान की रही है। हमारे पुरखों ने ऐसे ही इस सरजमीं की हिफाजत की। मणिपुर ऐसे ही बचा रह सकता है। कुकी होमलैंड की अवधारणा कामयाब नहीं हो सकती क्योंकि मैतेई, नगा और अन्य इसके लिए राजी नहीं होंगे। नागालिम भी लागू नहीं हो सकता क्योंकि मैतेई, कुकी और अन्य समुदाय इसे स्वीकार नहीं करेंगे।

राज्य के तीन हिस्से हों

चुराचांदपुर जिले के साइकोट विधानसभा क्षेत्र से भाजपा विधायक और कुकी शीर्ष संस्था 'कुकी इनपी मणिपुर' के प्रवक्ता पाओलियनलाल हाओकिप का मानना है कि मणिपुर को मैतेई, नगा और कुकियों के लिए विभाजन ही स्थायी हल है। उनका सुझाव है कि भारत को म्यांमार में सैन्य हस्तक्षेप करके नगा पुर कुकी व नगा-बहुल क्षेत्रों को मिला लेना चाहिए। बातचीत के संपादित अंश:

राज्य के मामले पर मोदी की हैरान करने वाली चुप्पी के पीछे कोई भू-राजनीतिक कारण हो सकता है

पहाड़ी लोगों को एकजुट होना होगा

प्रधानमंत्री समेत पूरी केन्द्र सरकार मणिपुर पर खामोश है। हालांकि, जब तक मणिपुर के पहाड़ी लोगों को विकास के भेदभाव से बचाने वाला कोई ठोस राजनीतिक समाधान नहीं निकलता, स्थायी शांति मुमकिन नहीं। नगाओं का एक तबका भले मैतेई-कुकी टकराव का फायदा उठाने की फिराक में हो, लेकिन 'समझदार' नगा महसूस करते हैं कि आदिवासी पहाड़ी समुदाय को सुरक्षित बस्तियों में एक साथ होना चाहिए, ताकि मैतेई उनके आंतरिक मामलों में दखल न दे सकें। मणिपुर को तीन हिस्सों में बांटना ही रास्ता है। संभव है कि साल भर कुछ अशांति रहे, लेकिन म्यांमार की सीमा से सटे इस संवेदनशील राज्य में यह मसला हमेशा के लिए सुलझ जाएगा।

आक्रामक हो विदेश नीति

म्यांमार के सागाइंग डिवीजन में नगा और कुकी समुदाय की बड़ी आबादी रहती है। वे सैन्य शासन के खिलाफ हैं। भारत को अपनी सीमाओं के विस्तार पर विचार करना चाहिए। म्यांमार निस्संदेह ऐसे किसी भी कदम का पुरजोर विरोध करेगा, लेकिन अगर हम दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र होने का दावा करते हैं, तो हमें सागाइंग के लोगों की लोकतांत्रिक आकांक्षाओं का समर्थन करना चाहिए। जब बात पड़ोस की आती है, तो भारत की विदेश नीति आधी-अधूरी नजर आती है। ■

सौरम सेन वक्तव्यांश में रहने वाले लेखक व पत्रकार है

बीजेडी की उत्तराधिकार परीक्षा

नवीन पटनायक की 'चुनी हुई उत्तराधिकारी' सुजाता राउत कार्तिकेयन को मिली-जुली प्रतिक्रियाओं और बड़ी चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है

एन.आर. मोहती

चौबीस वर्षों तक नवीन पटनायक ओडिशा की राजनीति के बेताज बादशाह रहे। हालांकि, 2024 के चुनावों ने एक निर्णायक मोड़ ला दिया जब भाजपा ने 79 विधानसभा सीटें जीतीं और सहयोगियों के साथ मिलकर सरकार बनाई। बीजेडी को केवल 50 सीटें मिलीं। बात यहीं खत्म नहीं हुई। इसके साथ ही हुए लोकसभा चुनावों में भाजपा ने 21 में से 20 लोकसभा सीटों पर कब्जा कर लिया और नवीन पटनायक के लंबे शासन का अंत कर दिया। अब बीजेडी की सत्ता में वापसी पूर्व आईएएस अधिकारी सुजाता राउत कार्तिकेयन के इर्द-गिर्द केन्द्रित उत्तराधिकार परीक्षा का सामना कर रही है।

जन्म से उड़िया और पूर्व आईएएस अधिकारी सुजाता नवीन पटनायक के भरोसेमंद निजी सचिव और उनके लंबे कार्यकाल के दौरान पर्दे के पीछे से सत्ता चलाने वाले सर्वशक्तिमान वी. कार्तिकेयन पांडियन की पत्नी हैं। पांडियन का दबदबा बेहद निर्णायक था; मुख्यमंत्री तक पहुंच उनके ही हाथ में थी और उन्हें पटनायक के सत्ता में लंबे समय तक बने रहने का सूत्रधार माना जाता था। फिर भी, भाजपा 2024 के ऐतिहासिक चुनाव में पांडियन को एक ऐसे बाहरी व्यक्ति के रूप में चित्रित करने में सफल रही, जिसने तमिलनाडु के दोहन किया, और इससे बीजेडी की साख को गहरा धक्का पहुंचा।

क्या सुजाता बीजेडी को पुनर्जीवित करने में कामयाब होंगी? इस सवाल ने राजनीतिक गलियारों में हलचल मचा दी है। कुछ लोगों का कहना है कि वह बीजेडी में नई जान फूंकने और उसका पुराना गौरव लौटा पाएंगी, वहीं अन्य का मानना है कि जब कमान औपचारिक रूप से पटनायक के हाथ से निकलेगी, तो पार्टी दो-फाड़ हो जाएगी। असलियत शायद इन दोनों के बीच कहीं छिपी है।

सुजाता और पांडियन का केरियर ओडिशा की राजनीतिक यात्रा से गहराई से जुड़ा हुआ है। दोनों आईएएस अधिकारियों को 2000 में ओडिशा कैडर मिला था- वही साल जब पटनायक ने बीजेडी-भाजपा गठबंधन के मुखिया के रूप में सत्ता की बागडोर संभाली थी।

2007 में गंजम के जिला कलक्टर के रूप में, जो पटनायक का पैतृक गृह क्षेत्र और उनका विधानसभा क्षेत्र (हिंजिली) भी था, पांडियन ने एक मेहनती, सक्षम और हर काम को अंजाम तक पहुंचाने वाले तेजतर्रार अफसर के तौर पर मुख्यमंत्री को खासा प्रभावित किया- एक ऐसा अफसर जो बिना किसी सवाल या हिचकिचाहट के मुख्यमंत्री के आदेशों को अमलीजामा पहना सकता था। 2011 तक पांडियन मुख्यमंत्री के निजी सचिव बन गए, और इस पद पर वह 12 वर्षों तक रहे। इस दौरान पांडियन पार्टी नेताओं से लेकर उद्योगपतियों तक हर किसी के लिए गेटकीपर बन गए; वह पदोन्नतियों, आवंटनों और नीतिगत फैसलों को निगरानी करते थे और नवीन पटनायक ने अपनी अधिकांश शक्तियां वस्तुतः उन्हें ही सौंप रखी थीं। उन्हें पटनायक की छाया माना जाता था।

पांडियन लगभग नवीन निवास में ही रहने लगे थे- वह निजी आवास जो मुख्यमंत्री को अपने पिता बीजू पटनायक से विरासत में मिला था। वह अक्सर मुख्यमंत्री के आधिकारिक विमान से यात्रा करते और पटनायक को प्रत्यक्ष तौर पर शामिल किए बिना ही परियोजनाओं का उद्घाटन करते थे। मुख्यमंत्री तक पहुंच पर उनका कड़ा पहरा था। यहां तक कि वरिष्ठ मंत्री भी पांडियन की अनुमति के बिना मुख्यमंत्री से नहीं मिल सकते थे। इसी एकाधिकार ने असंतोष के बीज भी बोए।

जब पांडियन ने मई 2024 के विधानसभा और लोकसभा चुनावों से सुधिकल से छह महीने पहले स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति ली और औपचारिक रूप से बीजेडी में शामिल हुए, तो योजना यह थी कि उन्हें आधिकारिक तौर पर पटनायक का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया जाए। लेकिन यह योजना धरी की धरी रह गई। भाजपा ने अपना पूरा ध्यान पांडियन पर केन्द्रित कर दिया। उनके कथित भ्रष्टाचार और 'बाहरी' होने के तमगे को उछालने के लिए चुनावी माहौल पूरी तरह अनुकूल साबित हुआ। वाट्सएप संदेशों और सोशल मीडिया वीडियो के जरिये यह बात गहराई से बैठाई गई कि पांडियन ने ओडिशा की कीमत पर अपने गृह राज्य तमिलनाडु को संपन्न बनाया।

*

जैसे-जैसे चुनाव प्रचार तेज हुआ, प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने खुद इन आरोपों को धार दी। एक के बाद एक रैलियों में उन्होंने पार्टी के इस नैरेटिव को दोहराया कि पांडियन ने ओडिशा की संपत्ति लूटकर अपने गृह राज्य भेज दी। उन्होंने यहां तक आरोप लगाया कि जगन्नाथ मंदिर के रत्न भंडार के भीतरी कक्ष की लापता चाबियां तमिलनाडु भेज दी गई हैं। भाजपा ने 'उड़िया अस्मिता' को चुनाव प्रचार की धुरी बना दिया और पांडियन को पूरी पटकथा का खलनायक बनाकर पेश किया। यह दांव चल गया।

चौबीस साल बाद सत्ता से बाहर होने पर बीजेडी कार्यकर्ताओं और नेताओं का गुस्सा फूट पड़ा। इस अपमानजनक पराजय का ठीकरा सीधे तौर पर पांडियन के सिर फोड़ा गया। माहौल के इस रुख को भांपते हुए पांडियन ने एक वीडियो जारी कर सक्रिय राजनीति से संन्यास लेने का ऐलान कर दिया, भले ही पटनायक उन्हें अपना स्वाभाविक उत्तराधिकारी मानते रहे।

लेकिन समय तेजी से बीत रहा था। मुख्यमंत्री का स्वास्थ्य गिरते देख पांडियन को कमान अपने हाथ में रखने की जरूरत थी। यहीं से सुजाता की एंट्री होती है। गणित बिल्कुल साफ था: उन पर 'बाहरी' का ठप्पा नहीं लगाया जा सकता था। उनके परिवार की जड़ें केंद्रपाड़ा में हैं, जिस क्षेत्र का संसद में कभी बीजू पटनायक ने प्रतिनिधित्व किया था।

*

सुजाता ने मार्च 2025 में, बीजेडी की राज्य परिषद की बैठक से मुश्किल से एक महीने पहले, स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति ले ली। यह कयास जोरों पर था कि पटनायक उन्हें पार्टी का कार्यकारी अध्यक्ष बनाएंगे, जिससे वह प्रभावी रूप से उनकी राजनीतिक उत्तराधिकारी बन जाएंगी। लेकिन 'प्रॉक्सी तमिल शासन' का विरोध कर रहे वरिष्ठ नेताओं की तीखी बगावत ने ऐसी किसी भी घोषणा पर रोक लगा दी। पांडियन ने सही वक्त का इंतजार करना बेहतर समझा।

इस साल जून में सुजाता एक 'साधारण' सदस्य के तौर पर पार्टी में शामिल हुईं। गौरतलब है कि पटनायक ने उनकी उड़िया पहचान पर जोर देते हुए और उन्हें तमिल जुड़ाव से अलग दिखाते हुए उनका परिचय सुजाता राउत के रूप में कराया।

पिछले कुछ महीनों में, जिन लोगों ने पांडियन के दौर में मलाई काटी थी, वे अब सुजाता के करीब आ रहे हैं, जबकि अन्य नेता सतर्क दूरी बनाए हुए हैं। राजनीतिक विश्लेषकों का मानना है कि नवीन पटनायक के उत्तराधिकार की रणनीति निरंतरता और छवि-प्रबंधन का एक मिलाजुला रूप दिखाती है, लेकिन साथ ही यह व्यक्ति- केन्द्रित नेतृत्व मॉडल की कमजोरियों को भी बेनकाब करती है। इसका नतीजा क्या होगा, देखना होगा। ■

एन.आर. मोहती नई दिल्ली में रहने वाले स्तंभकार और हिन्दुस्तान टाइम्स के पूर्व स्थानीय संपादक है

नवीन प

जब यूपी में बनी पहली निर्वाचित सरकार

स्वतंत्रता के बाद संयुक्त प्रांत का नाम बदलकर उत्तर प्रदेश कर दिया गया, तब भी पंत पहले मुख्यमंत्री बने

कृष्ण प्रताप सिंह

उत्तर प्रदेश में पहला विधानसभा चुनाव कब हुआ? पूछिए तो आम तौर पर एक ही उत्तर मिलता है : 1952 में देश की लोकसभा के लिए हुए पहले आम चुनाव के साथ। इसलिए कि यह तथ्य लगभग भुला दिया गया है कि उत्तर प्रदेश को पहली निर्वाचित सरकार अंग्रेजों द्वारा 1935 में बनाए गए भारत शासन अधिनियम (गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट) के तहत जनवरी-फरवरी, 1937 में कराए गए विधानसभा चुनाव के जरिये मिली थी।

अलबत्ता, तब इस प्रदेश का नाम संयुक्त प्रांत था। एक और दिलचस्प तथ्य यह है कि भले ही यह चुनाव 1937 में हुआ था, 1935 के भारत शासन अधिनियम के तहत कराए जाने के कारण बहुत से लोग इसको '1935 के भारत शासन अधिनियम का चुनाव' कहते हैं। तब इसी अधिनियम के तहत सूबे की विधान परिषद का भी गठन किया गया था।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के दबाव में ब्रिटिश संसद ने संवैधानिक सुधारों के रास्ते थोड़े सकारात्मक संदेश देने की मंशा के तहत इस अधिनियम को अगस्त, 1935 पारित किया था और यह उसके द्वारा पारित सबसे लंबा अधिनियम था। दरअसल, उस समय तक भारतीयों की पूर्ण स्वशासन और डोमिनियन स्टेटस (औपनिवेशिक स्वराज्य) की तेजी से बढ़ रही मांग को दबाना बहुत मुश्किल हो चला था और ब्रिटिश साम्राज्य खुद को इस मांग के प्रति सदाशयी और गंभीर जताना चाहता था।

इससे सात साल पहले 1928 में व्यापक विरोध के बीच भारत आए साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में देश में प्रांतीय द्वैध शासन को समाप्त करके एक संघीय ढांचे की स्थापना की सिफारिश की थी। इसके आधार पर 1930-32 के दौरान लंदन में हुए गोलमेज सम्मेलनों में हुई चर्चाओं में सुधारों का नया मसौदा तैयार किया गया था। फिर 1933 में जारी किए गए एक 'श्वेत पत्र' की बिना पर ब्रिटिश संसद की एक समिति ने इसका विस्तृत अंतिम मसौदा तैयार किया था।

संयुक्त प्रांत की विधानसभा में कुल 228 सीटें निर्धारित की गई थीं और उन्हीं के लिए चुनाव हुआ था। लेकिन इस चुनाव की बड़ी सीमा थी : इसमें सभी वयस्कों को मतदान करने का अधिकार नहीं था, क्योंकि उसे संपत्ति, कर अदायगी और शैक्षिक योग्यता आदि के आधार पर सीमित कर दिया गया था। इसके चलते कुल जनसंख्या के दस-बारह (अधिकतम चौदह) प्रतिशत लोग ही वोट दे सकते थे। देश में सभी वयस्कों को वोट देने का अधिकार तो देश का संविधान लागू होने के बाद 1952 के आम चुनावों से हासिल हुआ।

बहरहाल, चुनाव का नतीजा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पक्ष में रहा था। उसने विधानसभा की 228 में से 134 सीटों पर जीत हासिल कर स्पष्ट और पूर्ण बहुमत प्राप्त किया और गोविंद बल्लभ पंत के प्रधानमंत्रित्व में सरकार बनाई थी। तब प्रदेश सरकारों के मुखिया को मुख्यमंत्री के बजाय प्रीमियर या प्रधानमंत्री कहा जाता था।

इस सरकार में कई तपे-तपाए स्वतंत्रता सेनानी मंत्री बने थे। मिसाल के तौर पर अपने वक्त के मशहूर विधिवेत्ता और अधिवक्ता कैलाशनाथ काटजू कानून एवं न्याय मंत्री बनाए गए थे, जिन्होंने नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की आजाद हिन्द फौज के सैनिकों के विरुद्ध गोरी हुकूमत द्वारा चलाए गए ऐतिहासिक मुकदमों में उनके बचाव में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इतना ही नहीं, स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लिया था, 'भारत छोड़ो आंदोलन' के दौरान जेल गए थे। आजादी के बाद वह देश के गृहमंत्री, रक्षामंत्री और कानूनमंत्री और मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री भी रहे। रफ़ी अहमद किदवई को वित्तमंत्री बनाया गया था।

इसके पीछे व्यक्तित्व और संघर्ष ही था कि आज़ादी से पहले और आज़ादी के बाद बनी पहली सरकारों में गोविंद बल्लभ पंत ही मुखिया बने

इस सरकार ने सत्ता संभालते ही सरकारी कामकाज के पहले से चले आ रहे जनविरोधी ढर्रे को बदलकर जनकल्याणकारी बनाने की कोशिशें शुरू कीं तो, जैसा कि बहुत स्वाभाविक था, वह ब्रिटिश गवर्नर की आंखों में चुभने लगी। सबसे बड़ी मुश्किल यह थी कि भारत शासन अधिनियम के तहत केन्द्र और प्रांतों के बीच शक्तियों को स्पष्ट करने के लिए संघीय, प्रांतीय और समवर्ती नाम से जो तीन सूचियां बनाई गई थीं, उनमें इस सरकार के अधिकार प्रांतीय सूची तक ही सीमित थे। तिस पर उसके फैसलों के विरुद्ध गवर्नर को वीटो की जो शक्ति दी गई थी, वह अनेक बार उसके कदमों पर बहुत भारी पड़ जाती थी।

गोविंद वल्लभ पंत का युगांतकारी काम सदियों पुरानी जमींदारी व्यवस्था को खत्म करना था, जिससे 15 लाख बटाईदार और खेतिहर किसान अपनी जमीन के मालिक बन गए

गवर्नर प्रायः उसकी प्रशासनिक सोच और समझ, वह कितनी भी दूरदर्शी क्यों न हो, के आड़े आ जाया करता था। तिस पर प्रदेश के आर्थिक संसाधन भी बहुत सीमित थे। फिर भी इस सरकार ने कई ऐसे महत्वपूर्ण प्रशासनिक सुधार किए, जो बहुत जनहितकारी व ऐतिहासिक सिद्ध हुए। मिसाल के तौर पर 1939 में उसने यूनाइटेड प्रोविंसेस टेनेंसी ऐक्ट बनाकर सामंती जमींदारों द्वारा किसानों से मनमानी लगान वसूलने और उन्हें जमीन से बेदखल करने पर पूरी तरह रोक लगा दी।

साथ ही उसने ग्रामीण कर्ज राहत उपाय भी लागू किए, ताकि छोटे किसानों को साहूकारों और महाजनों के शोषण से बचाया जा सके। इससे भूमि का लगान कम होने और कर्ज से राहत मिलने से बदहाल किसानों ने बहुत राहत की सांस ली। आजादी के बाद 1952 में जमींदारी प्रथा का पूरी तरह उन्मूलन किया जा सका तो उसका श्रेय भी इस सरकार द्वारा बनाई गई भूमि सुधारों की वैधानिक रूपरेखा को ही जाता है। यह रूपरेखा वित्तमंत्री रफी अहमद किदवई ने बनायी थी और जानकारों के अनुसार इसके बगैर जमींदारी का उन्मूलन संभव ही नहीं था।

इस सरकार ने स्वतंत्रता संग्राम की विभिन्न कार्रवाइयों में बरबस जेल में डाल दिए गए अनेक राजनीतिक बंदियों रिहा करवाया। साथ ही आजादी के लिए संघर्षरत संगठनों और समाचार पत्रों पर लगाई गई सेंसरशिप और कई दूसरे प्रतिबंधों को पूरी तरह हटा दिया।

उन दिनों के कुख्यात कुली बेगार कानून के तहत भारतीयों को ब्रिटिश अधिकारियों के भारी-भरकम सामानों को भी बिना किसी भी तरह के पारिश्रमिक के बगैर ढोना पड़ता था। इस सरकार ने इस दमनकारी कानून का कड़ा विरोध तो किया ही, व्यावहारिक रूप से उसे खत्म कराकर ही दम लिया। इसने उन दिनों के कानपुर जैसे बड़े औद्योगिक केन्द्रों में मजदूरों के हालात सुधारने और उनके अधिकारों की रक्षा के लिए 'श्रम कल्याण बोर्ड' भी स्थापित कराए। प्रयोग के तौर पर कुछ चुने हुए जिलों में पूर्ण शराबबंदी भी लागू की। गोविंद वल्लभ पंत व्यक्तिगत रूप से बेहद ईमानदार और इस कारण सरकारी खजाने से फिजूलखर्ची को लेकर बहुत सख्त थे। इस कदर कि उन्होंने मंत्रियों और सरकारी अधिकारियों के वेतन-भत्तों को सीमित कर दिया और इससे बचे धन का आम लोगों की शिक्षा और स्वास्थ्य की समस्याओं को हल करने में खर्च की परंपरा डाली थी।

स्वाभाविक ही, उनकी सरकार बेहद लोकप्रिय थी, लेकिन वह अपना कार्यकाल पूरा नहीं कर सकी थी। अक्तूबर-नवंबर, 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटिश वायसराय ने भारतीय मंत्रियों की सहमति के बिना भारत को युद्ध में झोंक दिया, तो उसके विरोध में कांग्रेस द्वारा लिए गए निर्णय के अनुसार देश के दूसरे प्रदेशों की कांग्रेसी सरकारों की तरह इस सरकार ने भी इस्तीफा दे दिया, जिसके बाद भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 93 के तहत प्रदेश का नियंत्रण पूरी तरह ब्रिटिश गवर्नर के हाथों में चला गया।

1942 में महात्मा गांधी द्वारा 'भारत छोड़ो आंदोलन' शुरू करने के बाद, पंत सहित कांग्रेस के प्रायः सभी बड़े नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया और समूचा उत्तर प्रदेश राजनीतिक आंदोलनों और ब्रिटिश दमन का प्रमुख केन्द्र बन गया। द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होने के बाद, 1946 के आरंभ में दोबारा विधानसभा चुनाव हुए तो पंत सरकार द्वारा किए गए अच्छे काम कांग्रेस के बहुत काम आए। उसने एक बार फिर विधानसभा में प्रचंड बहुमत हासिल किया और एक अप्रैल 1946 को पंत दोबारा प्रधानमंत्री बने।

स्वतंत्रता के बाद 24 जनवरी 1950 को संयुक्त प्रांत का नाम बदलकर उत्तर प्रदेश कर दिया गया तो वह उत्तर प्रदेश के पहले मुख्यमंत्री भी बन गए। इस रूप में उनका सबसे युगांतकारी काम सदियों पुरानी जमींदारी व्यवस्था को खत्म करना था, जिससे 15 लाख बटाईदार और खेतिहर किसान सीधे तौर पर खेती की अपनी जमीन के मालिक बन गए।

पंत के बारे में बताते हैं कि एक बार उन्होंने एक सरकारी बैठक के बाद नाश्ते के बिल का सरकारी कोष से भुगतान करने से मना कर उसे अपनी जेब से अदा किया था, क्योंकि नियमानुसार सिर्फ चाय पी जा सकती थी। उन्होंने अधिकारियों से कहा कि जनता के पैसे की फिजूलखर्ची नहीं हो सकती। दिसंबर, 1954 में मुख्यमंत्री पद छोड़ने के बाद जनवरी 1955 में वह देश के गृहमंत्री भी बने थे। ■

टूटा गलबहियों का मुगालता

आशीष रॉय

अपने पूरे इतिहास में भारत वैश्विक मंच पर इतना लाचार कभी नहीं दिखा, और न ही इसके वैदेशिक संबंध कभी इतने बदतर और उलझे रहे जितने आज हैं। इसका सेहरा मोदी और जयशंकर की जोड़ी के सिर बंधता है।

अमेरिका के साथ रिश्तों का इस कदर बिखर जाना शायद उस अनाड़ीपन की सबसे बड़ी मिसाल है, जो मोदी सरकार के विदेश नीति प्रबंधन की पहचान बन चुका है। 35 सालों की कड़ी मेहनत से संवारे गए संबंध आज तार-तार हो चुके हैं, और इसकी वजह ट्रंप की अनिश्चितता से कहीं ज्यादा एक 'खास दोस्त' से दबंग बने नेता के सामने मोदी का डटकर खड़े न हो पाना है। दुनिया के अन्य छोटे-बड़े देशों के शासकों ने इस अड़ियल मिजाज नेता से कहीं बेहतर ढंग से निपटा है।

भारत के प्रति ट्रंप प्रशासन की बढ़ती हक़ारत का ताजा वाकया भारतीय और अमेरिकी प्रौद्योगिकी कंपनियों पर कसा गया वह शिकंजा है, जो विदेशी कामगारों को अमेरिका में स्थायी निवास या ग्रीन कार्ड दिलाने के लिए प्रायोजित करती हैं।

ट्रंप ने इंफोसिस, टाटा कंसल्टेंसी सर्विसेज (टीसीएस), कॉग्निजेंट, विप्रो और एचसीएल के साथ-साथ माइक्रोसॉफ्ट, कैपजेमिनी और एडोबी को एच-1बी वीजा पर अमेरिका में काम कर रहे अपने कर्मचारियों के लिए ग्रीन कार्ड आवेदन करने से रोक दिया है। अमेरिकी श्रम मंत्री कीथ सोंडरलिंग ने ऐलान किया, 'मैं दुनिया की कुछ सबसे बड़ी आईटी आउटसोर्सिंग कंपनियों को स्थायी श्रम प्रमाणन कार्यक्रम (पीईआरएम) से तत्काल प्रभाव से निलंबित कर रहा हूं।'

इस कदम को अमेरिका में कार्यरत भारतीय तकनीकी विशेषज्ञों के साथ-साथ इन कंपनियों के लिए भी एक बड़े झटके के रूप में देखा जा रहा है, जिनकी भर्तियां अब बेहद महंगी हो जाएंगी। भारतीय विदेश मंत्रालय ने हमेशा की तरह भीगी बिल्ली बनते हुए यह दबी-छुपी प्रतिक्रिया दी है कि यह फैसला 'साझा महत्वाकांक्षाओं को आगे नहीं बढ़ाता।'

विदेश मंत्रालय दरअसल तिनके का सहारा तलाश रहा है, क्योंकि जनवरी 2025 में शुरू हुए अपने दूसरे कार्यकाल में ट्रंप ने भारत को कभी तरजीही साझेदार नहीं माना। मई 2025 में भारत और पाकिस्तान के बीच हुए चार दिवसीय युद्ध के बाद हालात और बिगड़ गए। भारत के दो सबसे पेचीदा पड़ोसी- पाकिस्तान और चीन- ट्रंप की प्राथमिकता सूची में हैं।

कुशल भारतीय पेशेवरों को उनका सीधा और दो-टूक पैगाम हैः अमेरिका से दफा हो जाओ। अगर मोदी, जयशंकर और वाणिज्य मंत्री पीयूष गोयल अब भी यह नहीं समझ पाए हैं, तो वे मुगालते में ही जी रहे हैं।

ट्रंप के उपराष्ट्रपति जे.डी. वैंस ने जले पर नमक छिड़कते हुए कहाः 'अगर आप हिसाब लगाएं, तो माइक्रोसॉफ्ट ने जितने अमेरिकी कामगारों को नौकरी से निकाला, उनकी जगह औसतन डेढ़ विदेशी बंधुआ मजदूर रख लिए।' उनका दावा था कि कंपनी ने वर्ष 2025 में 6,000 अमेरिकी कर्मचारियों की छंटनी की, ताकि वह एच-1बी वीजा पर 6,300 नए विदेशी कर्मचारियों और लगभग 3,000 ग्रीन कार्ड धारकों को काम पर रख सके। भारत ने वेंस की इस टिप्पणी को 'बेहद अपमानजनक' बताया। विदेश मंत्रालय के प्रवक्ता ने कहा कि वेंस ने उस 'शब्दावली का इस्तेमाल किया है जिसमें दर्दनाक ऐतिहासिक और औपनिवेशिक मानसिकता की बू आती है।' लेकिन यह महज रस्मी मिमियाहट है।

माइक्रोसॉफ्ट को कथित तौर पर स्थायी श्रम प्रमाणन का सबसे बड़ा आवेदक माना जाता है, और ऐसी कंपनियों से कानूनी रूप से यह साबित करने की अपेक्षा की जाती है कि किसी विदेशी नागरिक को नियुक्त करने से स्थानीय अमेरिकी कामगारों के वेतन या रोजगार के अवसरों पर कोई विपरीत असर नहीं पड़ेगा। विडंबना यह है कि माइक्रोसॉफ्ट के मुख्य कार्यकारी अधिकारी सत्य नडेला भारतीय मूल के हैं, और उन्हें इसी महीने के शुरू में ट्रंप ने प्रतिष्ठित अमेरिकी 'नेशनल मेडल ऑफ टेक्नोलॉजी एंड इनोवेशन' से नवाजा था।

बेपरवाह दिखने की हताश कोशिश में पीयूष गोयल ने यह दलील दे डाली कि अमेरिकी शिकंजा 'भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए फायदेमंद' ही है। उनका तर्क था कि इस पाबंदी से प्रतिभा पलायन (ब्रेन ड्रेन) पर रोक लगेगी, कुशल पेशेवर देश में ही रुकेंगे और भारत में घरेलू स्टार्टअप्स तथा ग्लोबल कैपेबिलिटी सेंटर्स के विस्तार को रफ्तार मिलेगी।

पिछले साल ट्रंप ने अमेरिका आने वाले भारतीय निर्यात पर 50 फीसद का भारी शुल्क थोप दिया था, जिसे बाद में फरवरी में अमेरिकी सुप्रीम कोर्ट के एक फैसले ने घटाकर 10 फीसद कर दिया था। इसके बावजूद, रूसी कच्चा तेल खरीदने वाले मुल्कों पर अमेरिकी संसद द्वारा मंजूर 100 फीसद आयात शुल्क की तलवार अब भी भारत के सिर पर लटक रही है। पूरी संभावना है कि अंतरराष्ट्रीय बाजार में तेल के दाम थामने के लिए रूस से डीजल की वैश्विक आपूर्ति जारी रखने की गरज से ही ट्रंप ने अब तक इस कड़े प्रावधान को लागू नहीं किया है।

भारत अब सिर्फ यही उम्मीद कर सकता है कि अगले महीने होने वाले मध्यावधि चुनाव में झटका लगने के बाद विधायी सुरक्षा उपायों से भारत के प्रति ट्रंप के तल्ख रवैये पर लगाम लगे। लेकिन जब तक कोई भारत-हितैषी डेमोक्रेट नेता व्हाइट हाउस में दाखिल नहीं होता, दिल्ली के लिए असल राहत की कोई उम्मीद नहीं। ■

कुशल भारतीयों के लिए ट्रंप का सीधा और कड़ा संदेश है: अमेरिका से दफा हो जाओ

अमेरिकी उपराष्ट्रपति जे.डी. वैंस ने अमेरिका के बाहर से की गई भर्तियों को लेकर लाग-लपेट नहीं रखी

ईयू में लौटने को बेताब ब्रिटेन

आशीष रॉय

सन 2016 में हुए जनमत संग्रह में ब्रिटेन ने मामूली अंतर से यूरोपीय संघ (ईयू) से अलग होने के पक्ष में मतदान किया था। जैसा कि अंदेशा था, इस कदम ने व्यापार वृद्धि और कारोबारी लेन-देन की रफ्तार धीमी कर दी। जैसे-जैसे बाहरी मांग घटी, उत्पादन में भी गिरावट आई। बेरोजगारी बढ़ी, सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) को तगड़ा झटका लगा।

एक दशक बाद अब ब्रितानी आवाम को अहसास हो चुका है कि ब्रेक्जिट ऐतिहासिक भूल थी। हालिया जनमत सर्वेक्षणों से संकेत मिलता है कि अगर आज दोबारा जनमत संग्रह कराया जाए, तो ब्रितानी नागरिक यूरोपीय संघ में फिर से शामिल होने के पक्ष में निर्णायक मतदान करेंगे।

दो साल पहले ब्रिटेन की लेबर पार्टी भारी बहुमत के साथ सत्ता में आई थी। उनके प्रधानमंत्री कीर स्टारमर ने जनता की इस चाहत को भांप लिया था, लेकिन लेबर पार्टी के चुनावी घोषणापत्र में इसे स्पष्ट रूप से खारिज किया गया था। यह एक ऐसा वादा था जिसे स्टारमर तोड़ नहीं सकते थे, फिर भी उन्होंने कुछ जरूरी सामान के लिए यूरोपीय संघ के साथ व्यापार की राह आसान की।

उनके उत्तराधिकारी एंडी बर्नहैम यूरोपीय संघ के साथ फिर से तालमेल बिठाने की जरूरत को लेकर कहीं अधिक मुखर रहे हैं। हाल ही में ब्रिटेन की संसद के निचले सदन हाउस ऑफ कॉमन्स में दिए अपने भाषण में उन्होंने कहा कि भावी रिश्तों की संभावनाओं को तलाशने के लिए 20 नवंबर को ब्रिटेन और यूरोपीय संघ के बीच एक शिखर सम्मेलन आयोजित किया जाएगा। उन्होंने कहा, 'अगर हम आर्थिक विकास को गति देने, इमिग्रेशन पर नियंत्रण पाने और अपने मूल्यों व सुरक्षा को लेकर वाकई गंभीर हैं, तो यह ऐसी बातचीत है जिसे हमें आगे बढ़ाना ही होगा।' उन्होंने जोर देकर कहा, 'हमारी तात्कालिक प्राथमिकता इस शिखर सम्मेलन के सफल नतीजे हासिल करना है, और मेरा मानना है कि इसके बाद हमें दीर्घकालिक संबंधों के विभिन्न विकल्पों पर गंभीर बातचीत शुरू करनी चाहिए।'

वह स्टारमर के उस रुख पर कायम रहे कि 2029 में होने वाले अगले आम चुनाव से पहले यूरोपीय संघ में वापसी नहीं होगी। हालांकि, इस प्रक्रिया को तेज करने के लिए समय से पहले चुनाव कराने का अधिकार बर्नहैम को है। उन्होंने इसका स्पष्ट संकेत देते हुए कहा, 'हर कदम पर ब्रितानी जनता ही सर्वोपरि होगी, और मुझे पूरा यकीन है कि जनमत इस समय उसी व्यावहारिक नजरिए के साथ है जो मैं प्रस्तावित कर रहा हूं।'

जून 2016 के उस दुर्भाग्यपूर्ण दिन, जब ब्रिटेन ने यूरोपीय संघ से बाहर निकलने का फैसला किया था, तब बुजुर्ग आबादी, श्वेत कामगार वर्ग और ब्रितानी भारतीयों के एक हिस्से ने पलड़ा पलटने का काम किया था। दूसरी ओर, यूरोपीय संघ में बने रहने के फैसले को तय मानकर निश्चिंत युवा जश्न मनाने में व्यस्त रहे और घरों से बाहर नहीं निकले। अब वे बेहद हताश हैं क्योंकि वे यूरोपीय संघ के देशों में बेरोकटोक आ-जा नहीं सकते और उन्हें यूरोपीय हवाई अड्डों पर लंबी कतारों में खड़ा होना पड़ता है। लिहाजा वे पुरानी व्यवस्था में लौटने को उतावले हैं।

ब्रिटेन में इमिग्रेशन अब भी एक संवेदनशील विषय है, लेकिन ब्रिटेन और ईयू के पुनः एकीकरण के फायदे बहुत महत्वपूर्ण हैं

आव्रजन इस समय ब्रिटेन का एक सुलगता हुआ मुद्दा है। धुर-दक्षिणपंथी पार्टी 'रिफॉर्म यूके' का तेजी से बढ़ता आधार विदेशियों को देश से बाहर रखने की बुनियाद पर टिका है। जब संसद में पूछा गया कि क्या ब्रितानी प्रशासन के लिए अब अपनी सीमाओं पर नियंत्रण रखना अधिक कठिन हो गया है, तो बर्नहैम ने जवाब दियाः 'आव्रजन को नियंत्रित करने के मामले में आज हमारी स्थिति ठीक दस साल पहले की तुलना में कहीं कमजोर है।' इसका एक बड़ा कारण यह है कि ब्रेक्जिट के बाद ब्रिटेन का 'यूरोडैक' डेटाबेस से संपर्क टूट गया, जिसमें शरणार्थियों का बायोमेट्रिक डेटा दर्ज रहता है।

रिफॉर्म (जो उस वक्त 'ब्रेक्जिट पार्टी' के मुखौटे में थी) ने लोगों की निर्बाध आवाजाही का कड़ा विरोध किया था, जिसका सम्मान करना यूरोपीय संघ के हर सदस्य देश के लिए बाध्यकारी था। यह ब्रिटेन में आज भी एक बेहद संवेदनशील विषय है। इसलिए हाउस ऑफ कॉमन्स में बर्नहैम से सीधा सवाल किया गया कि क्या वह 'आवाजाही की स्वतंत्रता की बहाली न करने' की पुष्टि करेंगे। उन्होंने जवाब दिया, 'हमें उन विकल्पों को देखना होगा जो दीर्घकालिक संबंधों के लिए उपलब्ध हैं।' यूरोपीय संघ के साथ ब्रिटेन के दोबारा एकीकरण के सवाल पर रिफॉर्म पार्टी अब रक्षात्मक मुद्रा में आ चुकी है।

बर्नहैम बखूबी वाकिफ हैं कि ब्रितानी नागरिक आर्थिक तंगी का अंत चाहते हैं, और वह लगभग इस नतीजे पर पहुंच चुके हैं कि यूरोपीय संघ में दोबारा शामिल होना ही इसका उपाय है। परामर्श फर्म 'फ्रंटियर इकोनॉमिक्स' के अध्ययन के मुताबिक ईयू से फिर जुड़ने से लंबी अवधि में ब्रिटेन की जीडीपी में 2.5- 3.6 फीसद बढ़ोतरी हो सकती है। इसलिए ब्रिटेन और ईयू के संबंधों का नया पुनर्गठन अब तय दिख रहा है, बेशक अभी हमें नई व्यवस्था के वास्तविक स्वरूप का सटीक अंदाजा न हो। ■

दो हजार साल पुरानी है लोकतंत्र की अवधारणा

भारत ने आम जन के मताधिकार से चुनी जाने वाली सरकार की स्थापना के लिए चुना था व्यापक स्वरूप वाला लोकतंत्र

राजेंद्र चन्द्रकान्त राय

इन दिनों भारतीय लोकतंत्र सर्वाधिक चर्चा में है। लोकतंत्र को लहुलुहान करने और उसे बचाने के लिए संघर्ष करने वालों की खबरों से मीडिया भरा हुआ है। हमारा देश सैकड़ों सालों की गुलामी और आतताइयों की बर्बरताओं से 1947 में मुक्त हुआ। स्वाधीनता के लिए मर-मिटने वालों के नेतृत्व में आजादी आई। इसी के साथ नेतृत्वकर्ताओं के सामने चुनौती भी आ खड़ी हुई थी, कि वे अपने देश के लिए किस तरह की शासन व्यवस्था चाहते हैं। राजतंत्र, तानाशाही, सैन्य-तानाशाही, एक दलीय लोकतंत्र अथवा व्यापक स्वरूप वाला लोकतंत्र। उनके सामने अनेक विकल्प थे। असली सवाल था नियत का। नियत बहुत साफ थी इसलिए न तो राजतंत्र चुना गया, न तानाशाही। न सैन्य-तानाशाही और न ही एक दलीय लोकतंत्र। भारत ने आम जन के मताधिकार से चुनी जाने वाली सरकार की स्थापना के लिए व्यापक स्वरूप वाला लोकतंत्र चुना। सब विचारधाराओं और राजनैतिक दर्शनों के लिए खुले दरवाजे वाला लोकतंत्र। सभी धर्मावलंबियों, सभी वर्णों और जातियों, तथा सभी भाषाओं और विचारवालों के मत का समान मूल्य तय हुआ।

फोटो: गेटी इमेजेज

लोग इसलिए भारी तादाद में सड़कों पर निकल रहे क्योंकि लोकतंत्र को ही ख़तरे में डाल दिया गया है

बीसवीं सदी में ही और भी बहुत से देश स्वतंत्र हुए चीन, वियतनाम और उत्तर कोरिया ने एकदलीय लोकतंत्र, संयुक्त अरब अमीरात, कतर, ब्रूनेई ने पूर्ण राजशाही, म्यांमार ने लोकतंत्र चुना था, परंतु तुरंत ही सैन्य जुंटा की तानाशाही आ गई, लीबिया एक तानाशाही से मुक्त होकर दूसरी तानाशाही में चला गया है। बेलारूस में अधिनायकवादी शासन है। ऐसे भी देश हैं, जहां एक दिखावटी लोकतंत्र है, पर उसकी नकेल फौज के हाथों में है।

अस्सी साल हो चुके हैं और दुनिया के विशालतम भारतीय लोकतंत्र की ताकत कम नहीं हुई है। उस पर झंझावात आते रहे हैं, आते रहेंगे, पर वह अविचल बना रहेगा। उसकी जड़े बहुत गहरी हैं। इतिहास में खोज करेंगे तो उसकी जड़ें आज से दो हजार साल पीछे तक जाती हैं। जबलपुर में नर्मदा नदी के जलप्रपात धुआंधार वाले भेड़ाघाट के निकट ही एक गांव है, तेवर। असल में यह प्राचीनकाल की समृद्ध नगरी त्रिपुरी है। त्रिपुरी का विवरण पुराणों में भी मिलता है, परंतु उसका असली परिचय है कि वह कल्चुरियों की आदि-राजधानी रही है। इस त्रिपुरी में इतिहास का एक स्वर्ण काल छिपा हुआ है।

इतिहासकारों और पुरातत्ववेत्ताओं का ध्यान तेवर की ओर आकृष्ट हुआ और खोजों का क्रम चल पड़ा। जनरल कनिंघम ने तिओरी यानी तेवर के दो मंदिरों की खबर लेने के लिए इंजीनियर युले को कहा था। युले तत्कालीन वायसराय लार्ड कैनिंग के शिविर की व्यवस्था के संदर्भ में सन् 1860 में भेड़ाघाट आया था। युले ने मंदिरों की तलाश की और उसे त्रिपुरी के अब तक अज्ञात रहे खंडहर मिले। 1861 के 'जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' के अनुसार युले ने तेवर में देहरा में स्थित मंडप के अवशेष देखे थे और उनके विवरण के साथ उसका एक रेखाचित्र भी बनाया था। जनरल अलेग्जेंडर कनिंघम ने सन् 1873-74 में त्रिपुरी की यात्रा की और तेवर के अवशेषों पर एक रिपोर्ट तैयार की, जिसका प्रकाशन 'आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट' में हुआ।

> जिस देश की आत्मा में लोकतंत्र बसा हो, वह कभी-कभार लोकतंत्र के रास्ते में भटक तो सकता है, परंतु हट नहीं सकता। उसकी शक्ति उसके नागरिकों में बसती है

1952-53 में सागर विश्वविद्यालय डॉ. मोरेश्वर गंगाधर दीक्षित के निर्देशन में, करनबेल के हथियागढ़ नामक टीले पर, छोटे पैमाने का उत्खनन कार्य कराया। इसका उद्देश्य था, त्रिपुरी के गुप्त और कल्चुरिकालीन मध्यवर्ती इतिहास की सामग्री की खोज करना। असली और महत्वपूर्ण उत्खनन कार्य 1953 में संपन्न हुआ। मध्यप्रदेश सरकार के पुरातत्व विभाग, सागर और बड़ोदा विश्वविद्यालय तथा डेक्कन कॉलेज, पूना की ओर से एक संयुक्त-अभियान की योजना बनाई गई। अभियान के निर्देशक बने विख्यात पुरातत्वशास्त्री डॉ. हसमुख धीरजलाल सांकलिया। दूसरा चरण 1966-67 में सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग ने आचार्य कृष्णदत्त वाजपेयी के निर्देशन में संपन्न हुआ।

अवशेषों का अध्ययन करने पर यह ज्ञात हुआ कि त्रिपुरी ईसा पूर्व 1000 के आसपास ही बस चुकी थी। अर्थात् उसका अस्तित्व लगभग तीन हजार वर्ष पुराना है। इसके बाद त्रिपुरी के कल्चुरी-काल तक के प्रमाण मिलते हैं। ये पुरा-अवशेष ताम्राष्मयुगीन-संस्कृति का परिचय देते हैं। इस युग के स्तरों में सूक्ष्म पाषाण-अस्त्र और लाल सतह पर काली चित्रकारी से युक्त मिट्टी के बर्तनों तक के अवशेष मिले।

ये प्रमाण बताते हैं कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में, त्रिपुरी एक स्वतंत्र जनपद राज्य की राजधानी बनी। यह तथ्य त्रिपुरी के सिक्कों में सम्राटों के अंकित नामों से घोषित किया गया है। कालांतर में त्रिपुरी किसी एक ही राजवंश के हाथों में स्थिर नहीं रही, बल्कि उसे सातवाहनों, शकों और बोधियों द्वारा अपने साम्राज्य में शामिल किया गया।

कल्चुरि राजवंश के प्रथम सम्राट का नाम कृष्णराज था। ईस्वी सन् 550 से 1740 तक लगभग बारह सौ वर्षों की अवधि में कल्चुरि-नरेशों ने भारतवर्ष के उत्तर अथवा दक्षिण स्थित किसी न किसी प्रदेश में अपना राज्य चलाया है। जिस तरह शक-कुषाणों ने ईस्वीं सन् 78 में अपना संवत् स्थापित किया था, उसी तरह कल्चुरियों ने भी ईस्वीं सन् 249 से 'कल्चुरि-संवत्' की स्थापना की।

पंचायती-राज व्यवस्था और प्रजातंत्र-व्यवस्था का बीज-रूप भी, त्रिपुरी के कल्चुरियों के शासन में ही, सर्वप्रथम दिखाई देता है। नगरों और गांव की स्थानीय व्यवस्था के लिए 'पंचकुल' की स्थापना की गई थी। इसमें प्रायः 5 सदस्य होते थे। शिलालेखों के अनुसार, उनकी सदस्य संख्या कभी-कभी दस भी होती थी। प्रत्येक विभाग के लिए 'पंचकुल' होते थे। अर्थात् शासन में प्रजा की भागीदारी को महत्व दिया जाता था। चुने गए सदस्य महत्तर कहलाते थे। ये पाच महत्तर अपने में से ही एक प्रमुख का चुनाव करता था, उसे महत्तम कहा जाता था। शिलालेखों मे महत्तम को 'पांचकुलिक' भी कहा गया है। पांचकुलिक राजधानी में रहता था।

महत्तम के गुण निर्धारित थे, कि उसे आदर्श नागरिक, धर्मज्ञ, कार्य-दक्ष और इंद्रिय-निग्रही होना चाहिए। पंचुकुल के अधिकारों में शामिल था, कर-उपार्जन, ग्राम विकास में व्यय करने का, आर्थिक दंड लगाने का, न्यायदान, देवालय और भूमि व्यवस्था का अधिकार।

त्रिपुरी के कुछ प्राचीन ताम्रपटों में 'गमागयिक' पद नाम के अधिकारी का उल्लेख भी आया है। यह अधिकारी गांव और नगर में बाहर से आने-जाने वालों की निगरानी करता रहा होगा। महाप्रतिहार राजा से मिलने वालों को राजा तक ले जाता था और राजा द्वारा दी गयी आज्ञाओं तथा व्यवस्थाओं से, संबंधित राज्य-अधिकारियों को अवगत कराता था। राजगुरू राजा को सलाह देता था। उसका दरबार में काफी प्रभाव होता था। त्रिपुरी के कल्चुरियों के दान-पत्रों में राजन्, सामन्त, भोगिक, विषयपति, राष्ट्र और ग्राम के महत्तर आदि का उल्लेख हुआ है। बड़े प्रांत के अधिपति 'राजन्' कहलाते थे और छोटे प्रांत के सामंत।

कुछ पदनामों के ठीक-ठीक आशय ज्ञात नहीं किए जा सके हैं, परंतु उनका उल्लेख भी शिलालेख में हुआ है, जैसे- खंडवाल, खंडपाल, बलाधीर, माकुतिक आदि। आय के अनेक साधन थे। त्रिपुरी के कल्चुरियों के दान-पत्रों में 'उद्रंग' और 'उपरिकर' नाम आए हैं। उद्रंग जमीन के लगान के लिए और उपरिकर व्यापारियों-शिल्पियों आदि से लिया जाने वाला कर था। इसके अलावा नमक-निर्माण, लोहे की खदान, वन, चारागाह, आम और महुआ के वृक्षों आदि पर भी कर लिया जाता था। सब्जियों, हाथी, घोड़े आदि जानवरों के विक्रय पर भी कर-व्यवस्था थी। बिलहरी से प्राप्त शिलालेख बताता है, कि घोड़े के लिए दो 'पौर' और हाथी के लिये चार 'पौर' लिया जाता था। 'पौर' चांदी का एक छोटा सिक्का होगा ऐसा अनुमान किया जाता है।

जिस देश की आत्मा में लोकतंत्र बसा हो, वह कभी-कभार लोकतंत्र के रास्ते में भटक तो सकता है, परंतु हट नहीं सकता। उसकी शक्ति उसके नागरिकों में बसती है। इतिहास और संस्कृति में समाई हुई है। अयोध्यापति राम अपने एक साधारण नागरिक के अंगुली उठाने पर अपनी पत्नी सीता का परित्याग कर सकते हैं, तो उस देश के नागरिक प्राणों का त्याग कर भी उसी आदर्श की रक्षा कर सकते हैं। ■

सिर्फ सत्ता नहीं, व्यवस्था भी बदलनी चाहिए

बुनियादी परिवर्तन तब होगा जब सत्ता जनता के ऊपर बैठी हुई शक्ति न रहकर जनता के प्रति जवाबदेह संस्था बने

शैलेंद्र चौहान

सत्ता परिवर्तन को अक्सर परिवर्तन का पर्याय मान लिया जाता है। चुनाव हुआ, सरकार बदली, चेहरे बदले और मान लिया गया कि देश बदलने लगा। लेकिन सत्ता के शीर्ष पर बैठे चेहरों के बदल जाने से क्या समाज की बुनियादी संरचना बदल जाती है? क्या गरीब की गरीबी, मजदूर की असुरक्षा, किसान की विवशता, दलित की सामाजिक वंचना, स्त्री की असमानता और बेरोजगार युवा की बेचैनी समाप्त हो जाती है? यदि इसका उत्तर नहीं है, तो हमें सत्ता परिवर्तन और व्यवस्था परिवर्तन के बीच का फर्क समझना होगा।

सत्ता बदलना लोकतंत्र की अनिवार्य प्रक्रिया है। कोई सरकार जनविरोधी हो जाए, संस्थाओं को कमजोर करे, नागरिक अधिकारों पर अंकुश लगाए या जनता की आकांक्षाओं से दूर चली जाए तो उसे चुनाव के माध्यम से हटाना जरूरी है। लेकिन केवल सरकार बदल देना पर्याप्त नहीं है। क्योंकि सरकार बदल सकती है, सत्ता-संबंध नहीं; नीतियां बदल सकती हैं, आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण नहीं; चेहरे बदल सकते हैं, संस्थागत ढांचा नहीं।

यही कारण है कि कई बार जनता एक सरकार को हटाकर दूसरी सरकार को चुनती है, कुछ समय बाद वही निराशा लौट आती है। उसे लगता है कि उसने शासक बदला है, अपना जीवन नहीं।

असल प्रश्न यहीं से शुरू होता है। व्यवस्था किसी एक सरकार का नाम नहीं है। वह उन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और संस्थागत संबंधों का जाल है जिसके भीतर नागरिक अपना जीवन जीता है। कौन संसाधनों पर नियंत्रण रखता है, किसे शिक्षा मिलती है, किसे गुणवत्तापूर्ण स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध है, किसके पास रोजगार की सुरक्षा है, किसकी आवाज नीति-निर्माण तक पहुंचती है, किसके हितों को कानून प्राथमिकता देता है और किसके हितों को लगातार टाला जाता है—इन सबका सम्मिलित रूप व्यवस्था है।

इसलिए केवल सत्ता परिवर्तन से बुनियादी परिवर्तन की उम्मीद करना उस बीमारी का इलाज केवल इसलिए कर देना है कि डॉक्टर बदल गया है।

भारत में आर्थिक विकास हुआ है, लेकिन उसके साथ आर्थिक विषमता भी बढ़ी है। एक ओर संपत्ति और संसाधनों का अभूतपूर्व संकेन्द्रण है, दूसरी ओर करोड़ों लोगों का जीवन रोजगार, महंगाई, शिक्षा और स्वास्थ्य की असुरक्षा से घिरा हुआ है। यह अंतर केवल व्यक्तिगत क्षमता या परिश्रम का परिणाम नहीं है। सामाजिक अवसरों की असमानता, विरासत में मिली संपत्ति, शिक्षा तक असमान पहुंच, पूंजी पर नियंत्रण और श्रम के असमान मूल्य ने इसे संरचनात्मक रूप दिया है। जनपक्षधर व्यवस्था गरीब को हमेशा सहायता पाने वाला नागरिक नहीं बनाती; वह उसे ऐसी परिस्थितियां देती है जिसमें उसे सहायता की आवश्यकता ही कम होती जाए।

यहीं आर्थिक नीति की असली परीक्षा है। विकास का अर्थ केवल बड़े बांध, चौड़ी सड़कें, ऊंची इमारतें, बढ़ता शेयर बाजार या सकल घरेलू उत्पाद नहीं हो सकता। विकास का प्रश्न यह भी है कि इस वृद्धि का लाभ किसे मिला और उसकी कीमत किसने चुकाई। यदि अर्थव्यवस्था बढ़ती रहे और साथ-साथ श्रमिक की नौकरी असुरक्षित, किसान की आय अनिश्चित और मध्यम वर्ग की शिक्षा-स्वास्थ्य संबंधी लागत बढ़ती जाए, तो विकास के आंकड़े सामाजिक संतोष का प्रमाण नहीं हो सकते।

> व्यवस्था बदलनी है तो सत्ता के चरित्र, उसके संबंधों और उसकी प्राथमिकताओं को बदलना होगा। यही बुनियादी परिवर्तन की शुरुआत है

अर्थव्यवस्था मनुष्य के लिए है या मनुष्य अर्थव्यवस्था के लिए? यह प्रश्न जितना सरल है, उतना ही असुविधाजनक भी। बाजार आर्थिक जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा हो सकता है, लेकिन बाजार को समाज का अंतिम नियंता नहीं बनाया जा सकता। सार्वजनिक संस्थाओं का दायित्व है कि वे बाजार की क्षमता से बाहर छूट जाने वाले लोगों को अधिकार और सुरक्षा दें।

व्यवस्था परिवर्तन का सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र शिक्षा है। जिस समाज में अमीर और गरीब के बच्चों के लिए शिक्षा की गुणवत्ता अलग-अलग हो, वहां समान अवसर केवल संविधान की भाषा में रह जाता है। निजी शिक्षा के महंगे होते जाने और सार्वजनिक शिक्षा के कमजोर पड़ने का सबसे बड़ा नुकसान गरीब और निम्न-मध्यवर्गीय परिवारों को होता है। शिक्षा यदि सामाजिक गतिशीलता का रास्ता बनने के बजाय वर्गीय विभाजन को स्थायी करने लगे तो वह व्यवस्था की असमानता को अगली पीढ़ी तक पहुंचा रही है। स्वास्थ्य का प्रश्न भी ऐसा ही है।

लेकिन आर्थिक समानता के प्रश्न को सामाजिक समानता से अलग करके भी नहीं देखा जा सकता। भारत में जाति केवल सामाजिक पहचान नहीं है; वह सदियों से संसाधनों, सम्मान, शिक्षा और अवसरों के वितरण से जुड़ी रही है। इसलिए कानूनी समानता के बावजूद सामाजिक और आर्थिक असमानताएं बनी रह सकती हैं। दलितों, आदिवासियों और अन्य वंचित समुदायों के लिए अवसरों की बराबरी सुनिश्चित करना किसी पर उपकार नहीं, लोकतांत्रिक न्याय की शर्त है। इसी तरह महिलाओं की स्थिति को केवल महिला कल्याण की श्रेणी में रख देना पर्याप्त नहीं। श्रम के प्रश्न को भी राजनीति के केन्द्र में वापस लाना होगा।

जनता हर स्तर पर समझ चुकी है कि निर्वाचन आयोग भाजपा के पक्ष में काम कर रहा और इसीलिए उसका व्यापक विरोध हो रहा

किसी जनप्रतिनिधि की पहचान केवल उसकी चुनावी सफलता से नहीं होनी चाहिए। यह देखना चाहिए कि वह सत्ता में पहुंचकर किनके पक्ष में खड़ा होता है। पूंजी और श्रम के बीच संतुलन कैसे बनाता है। वह सार्वजनिक संस्थाओं को मजबूत करता है या निजी हितों के सामने उन्हें कमजोर होने देता है। वह असहमति को लोकतंत्र का हिस्सा मानता है या उसे शत्रुता समझता है। वह गरीबों को नागरिक मानता है या केवल चुनावी आंकड़ा।

चुनाव जीतना जनपक्षधर होने का प्रमाण नहीं है। लोकतंत्र में बहुमत प्राप्त करना शासन करने का अधिकार देता है, लेकिन मनमानी करने का अधिकार नहीं। बहुमत की सरकार को भी संविधान, संस्थाओं, नागरिक स्वतंत्रताओं और असहमति के अधिकार का सम्मान करना पड़ता है। यदि चुनाव जीतने के बाद सत्ता संस्थाओं को अपने अनुकूल ढालने लगे, स्वतंत्र आवाजों को कमजोर करे और आलोचना को राष्ट्रविरोध या विकास-विरोध के रूप में प्रस्तुत करे, तो चुनाव बचा रह सकता है, लोकतांत्रिक संस्कृति कमजोर हो सकती है।

इसलिए व्यवस्था परिवर्तन का एक बड़ा अर्थ संस्थाओं को सत्ता से स्वतंत्र और जनता के प्रति जवाबदेह बनाना भी है। संसद केवल कानून बनाने की मशीन नहीं हो सकती। न्यायपालिका केवल मुकदमों के निपटारे की संस्था नहीं है। चुनाव व्यवस्था केवल मतदान कराने वाली मशीनरी नहीं है। विश्वविद्यालय केवल डिग्री बाँटने के केंद्र नहीं हैं और मीडिया केवल सरकारी सूचनाओं का प्रसारक नहीं है। लोकतांत्रिक संस्थाओं का अस्तित्व सत्ता पर निगरानी रखने और नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करने के लिए है।

जब संस्थाएं मजबूत होती हैं तो सत्ता सीमित रहती है। जब संस्थाएं कमजोर होती हैं तो सत्ता धीरे-धीरे स्वयं व्यवस्था बन जाती है।

मीडिया का प्रश्न भी इसी से जुड़ा है। यदि सूचना का बड़ा हिस्सा सत्ता और बाजार के दबाव में तैयार होगा तो नागरिक के पास लोकतांत्रिक निर्णय के लिए आवश्यक स्वतंत्र सूचना कहां से आएगी? मीडिया का काम केवल यह बताना नहीं कि सत्ता ने क्या कहा। उसका काम यह भी पूछना है कि सत्ता ने ऐसा क्यों किया, उसका प्रभाव किस पर पड़ेगा और उससे लाभ किसे होगा।

व्यवस्था परिवर्तन का एक दूसरा पहलू नागरिक की राजनीतिक भूमिका है। जनता को केवल मतदाता बनाकर रखना लोकतंत्र को अधूरा कर देता है। चुनाव के बाद पांच वर्ष तक नागरिक यदि केवल दर्शक बना रहे तो सत्ता के केन्द्रीकरण की संभावना बढ़ती जाती है। जनता को नीतियों पर सवाल पूछने, जनप्रतिनिधियों से जवाब मांगने, संस्थाओं की निगरानी करने और सार्वजनिक बहस में भाग लेने का अधिकार और अवसर दोनों चाहिए।

व्यवस्था परिवर्तन का अर्थ राजनीति को इन वास्तविक प्रश्नों के केन्द्र में वापस लाना है। इसका अर्थ यह भी नहीं कि सत्ता में आने वाला हर व्यक्ति भ्रष्ट या शोषक है और हर नया व्यक्ति स्वतः बेहतर होगा। यही वह जगह है जहां सत्ता परिवर्तन और व्यवस्था परिवर्तन के बीच वास्तविक अंतर दिखाई देता है।

इसलिए आज आवश्यकता केवल ऐसी सत्ता की नहीं है जो वर्तमान सत्ता से बेहतर हो। सबसे महत्वपूर्ण यह कि ऐसी राजनीति सत्ता के केन्द्रीकरण के बजाय नागरिक की शक्ति बढ़ाए। क्योंकि अंततः किसी भी व्यवस्था की परीक्षा संसद के गलियारों में नहीं, समाज के सबसे कमजोर हिस्से में होती है।

जिस मजदूर के पास अपने भविष्य की कोई सुरक्षा नहीं, जिस किसान की मेहनत का मूल्य उसके हाथ में नहीं, जिस बच्चे की शिक्षा उसके माता-पिता की आय पर निर्भर है, जिस बीमार व्यक्ति को इलाज और रोजी-रोटी में से एक चुनना पड़ता है, जिस दलित या वंचित नागरिक को बराबरी के लिए आज भी संघर्ष करना पड़ता है और जिस युवा के सामने शिक्षा के बाद रोजगार का भरोसा नहीं—उसके जीवन में यदि कोई बुनियादी बदलाव नहीं आया तो सत्ता परिवर्तन अधूरा है।

एक शोषक के जाने से शोषण समाप्त नहीं होता। एक सरकार के जाने से सत्ता की प्रकृति नहीं बदलती। एक चुनाव जीत लेने से लोकतंत्र गहरा नहीं होता। बुनियादी परिवर्तन तब होगा जब सत्ता जनता के ऊपर बैठी हुई शक्ति न रहकर जनता के प्रति जवाबदेह संस्था बने; जब आर्थिक व्यवस्था का केन्द्र मुनाफे से आगे बढ़कर मनुष्य हो; जब संपत्ति और अवसरों की विषमता लगातार कम हो; जब श्रम को सम्मान और श्रमिक को सुरक्षा मिले; जब जाति और सामाजिक वंचना के विरुद्ध वास्तविक समानता स्थापित हो; और जब लोकतंत्र मतदान से आगे बढ़कर जीवन के हर क्षेत्र में नागरिक की भागीदारी और अधिकार का नाम बने।

सिर्फ सत्ता बदलनी है तो चेहरे बदलते रहेंगे। व्यवस्था बदलनी है तो सत्ता के चरित्र, उसके संबंधों और उसकी प्राथमिकताओं को बदलना होगा। यही बुनियादी परिवर्तन की शुरुआत है। ■

Published Date 18 October, 2026 (Sunday), Posted at LPC Delhi RMS, Delhi-06, Posting Days Friday and Saturday

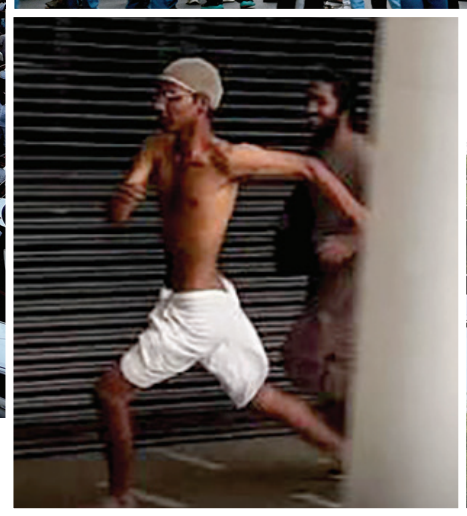

अक्तूबर का ज्वार

2–12 अक्तूबर 2026 एक और शानदार विरोध प्रदर्शन के कई रंग, जब विपक्ष, नागरिक समाज, युवा और बुजुर्ग, स्वस्थ या रुग्ण, लोकतंत्र के प्रति समर्पित भारतीय एक दमनकारी सत्ता के सामने डटकर खड़े हो गए

Nehru centre

नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम

वेस्टर्न एक्सप्रेसवे पर
मुंबई के हृदयस्थल में,
बीकेसी से सटे,
एयरपोर्ट के पास

इन सबके लिए सर्वोत्तमः
- कॉरपोरेट/एचआर मीटिंग, सेमिनार या ट्रेनिंग सेशंस
- व्याख्यान
- बुक लॉन्च/ बुक रीडिंग
- पैनल डिस्कशन
- साहित्यिक/सांस्कृतिक कार्यक्रम

ऑडिटोरियम उपलब्ध है
-पूरा दिन सुबह 10 बजे से शाम 8 बजे
-आधा दिन सुबह 10 बजे से दोपहर 2 बजे या शाम 4 बजे से शाम 8 बजे

बुकिंग के लिए कृपया संपर्क करें: +91 22-26470102, 8482925258
या हमें लिखें: contact@nehrucentre.com
नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम, दूसरा फ्लोर, एजेएल हाउस, 608/1ए, प्लॉट नं. 2, एस. नं. 341, पीएफ ऑफिस के पास, बांद्रा, मुंबई- 400051